भगवान श्री महावीर की २५वीं निर्वाण शताब्दी के उपलक्ष्य में

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

बन्धस्वामित्व नामक

कर्मग्रन्थ [तृतीय भाग]

[मूल, गाथार्थ, विशेषार्थ, विवेचन एवं टिप्पण तथा अनेक परिशिष्ट युक्त]

व्याख्याकार

मरुधरकेसरी, प्रवर्तक

मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज

संपादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

देवकुमार जैन

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्यप्रकाशन समिति

जोधपुर—ब्यावर

श्री मरुधरकेसरी साहित्यमाला का ३८वां

पुस्तक : कर्मग्रन्थ [तृतीय भाग]

पृष्ठ : २९४

सम्प्रेरक : विद्याविनोदी श्री सुकनमुनि

प्रकाशक : श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राजस्थान]

प्रथम आवृत्ति : वीर निर्वाण सं० २५०१
[२५वां महावीर-निर्वाण शताब्दी वर्ष]
वि० सं० २०३२, चैत्र शुक्ला १३
महावीर जयंती
ईस्वी सन् १९७५, अप्रैल

मुद्रक : श्रीचन्द सुराना के लिए
श्री विष्णु प्रिंटिंग प्रेस, आगरा-२

मूल्य : १०) दस रुपये मात्र

प्रकाशकीय

जैन दर्शन को समझने की कुन्जी है—'कर्मसिद्धान्त'। यह निश्चित है कि समग्र दर्शन एवं तत्त्वज्ञान का आधार है आत्मा और आत्मा की विविध दशाओं, स्वरूपों का विवेचन एवं उसके परिवर्तनों का रहस्य उद्घाटित करता है 'कर्मसिद्धान्त'। इसलिये जैनदर्शन को समझने के लिए 'कर्मसिद्धान्त' को समझना अनिवार्य है।

कर्मसिद्धान्त का विवेचन करने वाले प्रमुख ग्रन्थों में 'श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित' कर्मग्रन्थ अपना विशिष्ट महत्व रखते हैं। जैन साहित्य में इनका अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान है। तत्व जिज्ञासु भी कर्मग्रन्थों को आगम की तरह प्रतिदिन अध्ययन एवं स्वाध्याय की वस्तु मानते हैं।

कर्मग्रन्थों की संस्कृत टीकाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं। इनके कई गुजराती अनुवाद भी हो चुके हैं। हिन्दी में कर्मग्रन्थों का सर्वप्रथम विवेचन प्रस्तुत किया था विद्वद्वरेण्य मनीषी प्रवर महाप्राज्ञ पं० सुखलालजी ने। उनकी शैली तुलनात्मक एवं विद्वत्ताप्रधान है। पं० सुखलालजी का विवेचन आज प्रायः दुष्प्राप्य-सा है। कुछ समय से आशुकविरत्न गुरुदेव श्री मरुधर केसरीजी म० की प्रेरणा मिल रही थी कि कर्मग्रन्थों का आधुनिक शैली में विवेचन प्रस्तुत करना चाहिए। उनकी प्रेरणा एवं निदेशन से यह सम्पादन प्रारम्भ हुआ। विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह कार्य बड़ी गति के साथ आगे बढ़ता गया। श्री देवकुमार जी जैन का सहयोग मिला और कार्य कुछ ही समय में आकार धारण करने योग्य बन गया।

इस संपादन कार्य में जिन प्राचीन ग्रन्थ लेखकों, टीकाकारों, विवेचन कर्त्ताओं तथा विशेषतः पं० सुखलाल जी के ग्रंथों का सहयोग प्राप्त हुआ

और इतने गहन ग्रन्थ का विवेचन सहजगम्य बन सका। मैं उक्त सभी विद्वानों का असीम कृतज्ञता के साथ आभार मानता हूँ।

श्रद्धेय श्री मरुधरकेसरी जी म० का समय-समय पर मार्गदर्शन, श्री रजत-मुनिजी एवं श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा एवं साहित्यसमिति के अधिकारियों का सहयोग, विशेषकर समिति के व्यवस्थापक श्री सुजानमल जी सेठिया की सहृदयता पूर्ण प्रेरणा व सहकार से ग्रन्थ के संपादन-प्रकाशन में गतिशीलता आई है, मैं हृदय से आभार स्वीकार करूँ—यह सर्वथा योग्य ही होगा।

विवेचन में कहीं त्रुटि, सैद्धान्तिक भूल, अस्पष्टता तथा मुद्रण आदि में अशुद्धि रही हो तो उसके लिए मैं क्षमाप्रार्थी हूँ और, हंस-बुद्धि पाठकों से अपेक्षा है कि वे स्नेहपूर्वक सूचित कर अनुगृहीत करेंगे। भूल सुधार एवं प्रमाद-परिहार में सहयोगी बनने वाले अभिनन्दनीय होते हैं। बस इसी अनुरोध के साथ—

विनीत

—श्रीचन्द सुराना 'सरस'

आ मु ख

जैन दर्शन के संपूर्ण चिन्तन, मनन और विवेचन का आधार आत्मा है। आत्मा सर्वतंत्र स्वतंत्र शक्ति है। अपने सुख-दुख का निर्माता भी वही है और उसका फल भोग करने वाला भी वही है। आत्मा स्वयं में अमूर्त है, परम विशुद्ध है, किन्तु वह शरीर के साथ मूर्तिमान वनकर अशुद्ध दशा में संसार में परिभ्रमण कर रहा है। स्वयं परम आनन्द स्वरूप होने पर भी सुख-दुख के चक्र में पिस रहा है। अजर अमर होकर भी जन्म-मृत्यु के प्रवाह में वह रहा है। आश्चर्य है कि जो आत्मा परम शक्तिसम्पन्न है, वही दीन-हीन, दुखी, दरिद्र के रूप में संसार में यातना और कष्ट भी भोग रहा है। इसका कारण क्या है ?

जैन दर्शन इस कारण की विवेचना करते हुए कहता है—आत्मा को संसार में भटकाने वाला कर्म है। कर्म ही जन्म-मरण का मूल है **कम्मं च जाई मरणस्स मूलं**—भगवान श्री महावीर का यह कथन अक्षरशः सत्य है, तथ्य है। कर्म के कारण ही यह विश्व विविध विचित्र घटना चक्रों में प्रतिपल परिवर्तित हो रहा है। ईश्वरवादी दर्शनों ने इस विश्ववैचित्र्य एवं सुख-दुख का कारण जहां ईश्वर को माना है, वहाँ जैनदर्शन ने समस्त सुख-दुख एवं विश्ववैचित्र्य का कारण मूलतः जीव एवं उसका मुख्य सहायक कर्म माना है। कर्म स्वतंत्र रूप से कोई शक्ति नहीं है, वह स्वयं में पुद्गल है, जड़ है। किन्तु राग-द्वेष वशवर्ती आत्मा के द्वारा कर्म किये जाने पर वे इतने वलवान और शक्तिसंपन्न वन जाते हैं कि कर्त्ता को भी अपने वंधन में वांध लेते हैं। मालिक को भी नौकर की तरह नचाते हैं। यह कर्म की वड़ी विचित्र शक्ति है। हमारे जीवन और जगत के समस्त परिवर्तनों का यह मुख्य वीज कर्म क्या है, इसका स्वरूप क्या है ? इसके विविध परिणाम कैसे होते हैं ? यह वड़ा ही गम्भीर विषय है।

जैनदर्शन में कर्म का बहुत ही विस्तार के साथ वर्णन किया गया है। कर्म का सूक्ष्मातिसूक्ष्म और अत्यंत गहन विवेचन जैन आगमों में और उत्तरवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त होता है। वह प्राकृत एवं संस्कृत भाषा में होने के कारण विद्वद्भोग्य तो है, पर साधारण जिज्ञासु के लिए दुर्बोध है। थोकड़ों में कर्मसिद्धान्त के विविध स्वरूप का वर्णन प्राचीन आचार्यों ने गूंथा है, कंठस्थ करने पर साधारण तत्त्व-जिज्ञासु के लिए अच्छा ज्ञानदायक सिद्ध होता है।

कर्मसिद्धान्त के प्राचीन ग्रन्थों में कर्मग्रन्थ का महत्वपूर्ण स्थान है।श्रीमद् देवेन्द्रसूरि रचित इसके पांच भाग अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें जैनदर्शन सम्मत समस्त कर्मवाद, गुणस्थान, मार्गणा, जीव, अजीव के भेद-प्रभेद आदि समस्त जैनदर्शन का विवेचन प्रस्तुत कर दिया गया है। ग्रन्थ जटिल प्राकृत भाषा में है और इसकी संस्कृत में अनेक टीकाएं भी प्रसिद्ध हैं। गुजराती में भी इसका विवेचन काफी प्रसिद्ध है। हिन्दी भाषा में इस पर विवेचन प्रसिद्ध विद्वान् मनीषी पं० सुखलाल जी ने लगभग ४० वर्ष पूर्व तैयार किया था।

वर्तमान में कर्मग्रन्थ का हिन्दी विवेचन दुष्प्राप्य हो रहा था, फिर इस समय तक विवेचन की शैली में भी काफी परिवर्तन आ गया। अनेक तत्त्व-जिज्ञासु मुनिवर एवं श्रद्धालु श्रावक परमश्रद्धेय गुरुदेव मरुधर केसरी जी म० सा० से कई वर्षों से प्रार्थना कर रहे थे कि कर्मग्रन्थ जैसे विशाल और गम्भीर ग्रन्थ का नये ढंग से विवेचन एवं प्रकाशन होना चाहिए। आप जैसे समर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान एवं महास्थविर संत ही इस अत्यन्त श्रमसाध्य एवं व्यय-साध्य कार्य को सम्पन्न करा सकते हैं। गुरुदेव श्री का भी इस ओर आकर्षण था। शरीर काफी वृद्ध हो चुका है। इसमें भी लम्बे-लम्बे विहार और अनेक संस्थाओं व कार्यक्रमों का आयोजन! व्यस्त जीवन में आप १०-१२ घंटा से अधिक समय तक आज भी शास्त्र स्वाध्याय, साहित्य सर्जन आदि में लीन रहते हैं। गत वर्ष गुरुदेव श्री ने इस कार्य को आगे बढ़ाने का संकल्प किया। विवेचन लिखना प्रारम्भ किया। विवेचन को भाषा-शैली आदि दृष्टियों से सुन्दर एवं रुचिकर बनाने तथा फुटनोट, आगमों के उद्धरण संकलन, भूमिका लेखन आदि कार्यों का दायित्व प्रसिद्ध विद्वान श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना को सौंपा गया।

श्री सुराना जी गुरुदेव श्री के साहित्य एवं विचारों से अतिनिकट सम्पर्क में हैं। गुरुदेव के निर्देशन में उन्होंने अत्यधिक श्रम करके यह विद्वत्तापूर्ण तथा सर्व साधारण जन के लिए उपयोगी विवेचन तैयार किया है। इस विवेचन में एक दीर्घकालीन अभाव की पूर्ति हो रही है। साथ ही समाज को एक सांस्कृतिक एवं दार्शनिक निधि नये रूप में मिल रही है, यह अत्यधिक प्रसन्नता की वात है।

मुझे इस विषय में विशेष रुचि है। मैं गुरुदेव को तथा संपादक वन्धुओं को इसकी संपूर्ति के लिए समय-समय पर प्रेरित करता रहा। प्रथम व द्वितीय भाग के पश्चात् यह तृतीय भाग आज जनता के समक्ष आ रहा है। इसकी मुझे हार्दिक प्रसन्नता है।

पहले के दो भाग जिज्ञासु पाठकों ने पसन्द किये हैं, उनके तत्त्वज्ञान-वृद्धि में वे सहायक वने हैं, ऐसी सूचनाएं मिली हैं। आशा है प्रथम व द्वितीय भाग की तरह यह तृतीय भाग ज्ञानवृद्धि में अधिक उपयोगी वनेगा।

—सुकन मुनि

प्रकाशकीय

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति के विभिन्न उद्देश्यों में एक प्रमुख एवं रचनात्मक उद्देश्य है—जैन धर्म एवं दर्शन से सम्बन्धित साहित्य का प्रकाशन करना। संस्था के मार्गदर्शक परमश्रद्धेय श्री मरुधर केसरीजी म० स्वयं एक महान विद्वान, आशुकवि तथा जैन आगम तथा दर्शन के मर्मज्ञ हैं और उन्हीं के मार्गदर्शन में संस्था की विभिन्न लोकोपकारी प्रवृत्तियां चल रही हैं। गुरुदेव श्री साहित्य के मर्मज्ञ भी हैं, अनुरागी भी हैं। उनकी प्रेरणा से अव तक हमने प्रवचन, जीवनचरित्र, काव्य, आगम तथा गम्भीर विवेचनात्मक ग्रन्थों का प्रकाशन किया है। अव विद्वानों एवं तत्त्वजिज्ञासु पाठकों के सामने हम उनका चिर प्रतीक्षित ग्रन्थ 'कर्मग्रन्थ' विवेचन युक्त प्रस्तुत कर रहे हैं।

कर्मग्रन्थ जैन दर्शन का एक महान ग्रंथ हैं। इसमें जैन तत्त्वज्ञान का सर्वांग विवेचन समाया हुआ है। पूज्य गुरुदेव श्री के निर्देशन में प्रसिद्ध लेखक-संपादक श्रीयुत श्रीचन्द जी सुराना एवं उनके सहयोगी श्री देवकुमार जी जैन ने मिलकर इसका सुन्दर सम्पादन किया है। तपस्वीवर श्री रजतमुनि जी एवं विद्याविनोदी श्री सुकनमुनिजी की प्रेरणा से यह विराट कार्य समय पर सुन्दर ढंग से सम्पन्न हो रहा है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन श्रीमान् घीसूलाल जी मोहनलालजी सेठिया, मैसूर एवं श्रीमान् सेठ भैंरुमल जी रांका, सिकन्द्रावाद के अर्थ सौजन्य से किया जा रहा है। हम सभी विद्वानों, मुनिवरों एवं सहयोगी उदार गृहस्थों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करते हुए आशा करते हैं कि अतिशीघ्र क्रमशः अन्य भागों में हम सम्पूर्ण कर्मग्रन्थ विवेचन युक्त पाठकों की सेवा में प्रस्तुत करेंगे। प्रथम व द्वितीय भाग कुछ समय पूर्व ही पाठकों के हाथों में पहुंच चुका है। विद्वानों एवं जिज्ञासु पाठकों ने उसका स्वागत किया है। अव यह तृतीय भाग पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

विनीत, मन्त्री—

श्री मरुधर केसरी साहित्य प्रकाशन समिति

आभार दर्शन

प्रस्तुत कर्मग्रन्थ, तृतीय भाग के प्रकाशन में निम्न उदार दानदाताओं का सहयोग प्राप्त हुआ है।

१ श्रीमान घीसूलालजी मोहनलालजी सेठिया,
मैसूर (मारवाड-भावी)

२ श्रीमान सेठ भैंरुंमलजी रांका
सिकन्दराबाद (आ. प्र.)

हम उक्त सज्जनों ने अनुकरणीय सहयोग के प्रति हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं।

मंत्री

—श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

अनुक्रमणिका

प्र स्ता व ना

कर्मग्रन्थों में जीवस्थान, मार्गणास्थान और गुणस्थान इन तीन प्रकारों (द्वारों) द्वारा संसारी जीवों की विविधताओं, विकासोन्मुखता आदि का क्रमवद्ध धारावाहिक रूप में विवेचन हुआ है। इन तीनों में से जीवस्थान के द्वारा संसारी जीवों की शारीरिक आकार-प्रकार की विभिन्नता वतलाई जाती है। गुणस्थानों में आत्मा की सघन कर्मावृत दशा से लेकर परम निर्मल विकास की उज्ज्वल एवं सर्वोच्च भूमिका तक विकासोन्मुखी क्रमवद्ध श्रेणियों का कथन है और मार्गणास्थान में आत्मा की दोनों स्थितियों का, वाह्य (शारीरिक) और आन्तरिक (आत्मिक) भिन्नताओं, विविधताओं का वर्गीकरण करते हुए विवेचन किया गया है। इस दृष्टि से देखें तो मार्गणास्थान मध्य द्वार '(देहली)-दीपक न्याय के समान जीवस्थान के शारीरिक—वाह्य और गुणस्थान के आत्मिक—आन्तरिक दोनों प्रकार के कथनों को अपने में गर्भित करता है।

इसके अतिरिक्त मार्गणास्थान की अपनी एक और विशेषता है कि जीवस्थान सिर्फ जीवों के वाह्य-प्रकारों, विविधताओं का कथन करता है और गुणस्थान आत्मा के क्रमभावी विकास की क्रमिक अवस्थाओं की सूचना करते हैं और उनका एक दूसरे के साथ सम्वन्ध नहीं है, वे क्रमभावी होते हैं, लेकिन मार्गणास्थान सहभावी हैं। इनका जीवस्थानों के साथ भी सम्वन्ध है और गुणस्थानों के साथ भी। दोनों प्रकार की भिन्नताओं वाले जीवों का किसी न किसी मार्गणास्थान में अवश्य अन्तर्भाव—समावेश हो जाता है।

मार्गणा का लक्षण

संसार में अनन्त जीव हैं और उन जीवों के वाह्य व आन्तरिक जीवन की निर्मिति में अनेक प्रकार की विचित्रता, विभिन्नता, पृथक्ता का दर्शन होता है। शरीर के आकार-प्रकार, रूप-रंग, इन्द्रिय रचना, हलन-चलन, गति, विचार, वौद्धिक अल्पाधिकता आदि-आदि अनेक रूपों में एक दूसरे जीव में भिन्नता

दृष्टिगत होती है। यह भिन्नता इतनी अधिक है कि समस्त जीव जगत विभिन्नताओं का एक आश्चर्यजनक संग्रहालय (अजायबघर) प्रतीत होता है।

जीव जगत की विभिन्नतायें इतनी अनन्त है कि एक ही जाति के जीवों की भी परस्पर एक दूसरे से तुलना नहीं की जा सकती है। हम अपनी मनुष्य-जाति को देख लें। सबके हाथ-पैर आदि अंग-उपांग हैं, लेकिन आकृति समान नहीं है, कोई लम्बा है तो कोई ठिगना, कोई गौर वर्ण है तो कोई कृष्ण वर्ण आदि। यह तो हुई शारीरिक दृष्टि की विभिन्नता, लेकिन बौद्धिक दृष्टि की विभिन्नता का विचार करें तो किसी की बुद्धि मन्द है और कोई कुशाग्र बुद्धि, और इसके बीच भी अनेक प्रकार की तरतमता देखने में आती है। इसीप्रकार की अन्यान्य विभिन्नतायें हम प्रतिदिन देखते हैं, अनुभव करते हैं। जब एक मनुष्यजाति में भी अनेकताओं की भरमार है तो अन्य पशु, पक्षी, देव, नारक के रूप में विद्यमान जीवों में रहने वाली भिन्नताओं की थाह लेना कैसे सम्भव हो सकता है ? फिर भी अध्यात्म विज्ञानी सर्वज्ञों ने इन अनन्त भिन्नताओं का मार्गणा के रूप में वर्गीकरण करते हुये मार्गणा का लक्षण कहा है—

जीवस्थानों और गुणस्थानों में विद्यमान जीव जिन भावों के द्वारा अथवा जिन पर्यायों के द्वारा अनुमार्गण किये जाते हैं—खोजे जाते हैं, उनकी गवेषणा, मीमांसा की जाती है, उन्हें मार्गणा कहते हैं।

इस गवेषणा के कार्य को सरल और व्यवस्थित रूप देने के लिए मार्गणा स्थान के चौदह विभाग किये हैं और इन चौदह विभागों के भी अवान्तर विभाग हैं। इनके नाम और अवान्तर भेदों की संख्या नाम आदि यथास्थान इसी ग्रन्थ में अन्यत्र दिये गये हैं जिनमें समस्त जीवों की बाह्य एवं आन्तरिक जीवन सम्बन्धी अनन्त भिन्नताएं वर्गीकृत हो जाती हैं।

इस तृतीय कर्म ग्रन्थ में मार्गणाओं के आधार से गुणस्थानों को लेकर बन्ध-स्वामित्व का कथन किया गया है अर्थात् किस-किस मार्गणा में कितने गुण-स्थान सम्भव हैं और उन मार्गणावर्ती जीवों में सामान्य से तथा गुणस्थानों के विभागानुसार कर्मबन्ध की योग्यता का वर्णन किया गया है।

विभिन्नताओं का कारण

अब प्रश्न यह है कि जीवों में विद्यमान विभिन्नताओं, विविधताओं का

कारण क्या है ? इस 'क्या' का समाधान करने लिए विभिन्न दार्शनिकों, चिन्तकों ने अपने-अपने विचार एवं दृष्टिकोण प्रस्तुत किये हैं, जिनका संकेत श्वेताश्वेततरोपनिषद् १/२ के निम्नलिखित श्लोक में देखने को मिलता है—

कालः स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानियोनिः पुरुष इति चिन्त्यम् ।
संयोग एषां न स्वात्मभावादात्माप्यनीशः सुखदुःख हेतोः ॥

काल, स्वभाव, नियति, यदृच्छा, पृथिव्यादि भूत और पुरुष—ये विभिन्नता के कारण हैं । जीव स्वयं अपने सुख-दुःख आदि के लिए असमर्थ है, वह पराधीन है । इसीप्रकार से अन्य-अन्य विचारों ने अपने-अपने दृष्टिकोण उपस्थित किये हैं । यदि उन सब विचारों का संकलन किया जाये तो एक महा निबन्ध तैयार हो सकता है । लेकिन यहाँ विस्तार में न जाकर संक्षेप में कारणों के रूप में निम्नलिखित विचारों के बारे में चर्चा करते हैं—

१ काल, २ स्वभाव, ३ नियति, ४ यदृच्छा, ५ पौरुष, ६ पुरुष (ईश्वर) ।

ये सभी विचार परस्पर एक दूसरे का खंडन एवं अपने द्वारा ही कार्य सिद्धि का मंडन करते हैं । इनका दृष्टिकोण क्रमशः नीचे लिखे अनुसार है ।

कालवाद—यह दर्शन काल को मुख्य मानता है । इस दर्शन का कथन है कि संसार का प्रत्येक कार्य काल के प्रभाव से हो रहा है । काल के बिना स्वभाव, पौरुष आदि कुछ भी नहीं कर सकते हैं । एक व्यक्ति पाप या पुण्य कार्य करता है, किन्तु उसी समय उसका फल नहीं मिलता है । योग्य समय आने पर उसका अच्छा या बुरा (शुभ-अशुभ) फल मिलता है । ग्रीष्म काल में सूर्य तपता है और शीत ऋतु में शीत पड़ता है । इसी प्रकार मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता है किन्तु समय आने पर सब कार्य यथायोग्य प्रकार से होते जाते हैं । यह सब काल की महिमा है । कालवाद का दृष्टिकोण यह है—

कालः सृजति भूतानि कालः संहरते प्रजा ।
कालः सुप्तेषु जागर्ति कालोहि दुरतिक्रमः ॥[1]

---

१ महाभारत १/२४८

काल ही समस्त भूतों की सृष्टि करता है, संहार करता है। काल के प्रभाव से प्रजा का संकोच-विस्तार होता है। सभी के सो जाने पर भी काल सदैव जाग्रत रहता है। इसीलिए दुरतिक्रम काल ही इस संसार की विचित्रता, विविधता और जीवों के सुख-दुःख आदि का मूल कारण है।

स्वभाववाद—स्वभाववाद का अपना अनूठा ही दृष्टिकोण है। उसके अपने तर्क हैं। वह कहता है कि संसार में जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, वे सब अपने-अपने स्वभाव के प्रभाव से हो रहे हैं। स्वभाव के बिना काल, नियति आदि कुछ भी नहीं कर सकते हैं। आम की गुठली में आम होने का स्वभाव है, इसीलिये उससे आम का वृक्ष और फल प्राप्त होता है और नीम की निम्बोली में नीम का वृक्ष होने का स्वभाव है। नीम कड़वा और ईख मीठा क्यों है? तो इसका कारण उन-उनमें विद्यमान स्वभाव है। स्वभाववाद के विचारों के लिये निम्नलिखित उद्धरण उपयोगी है—

यः कण्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं विचित्रभावं मृगपक्षिणां च।
स्वभावतः सर्वमिदं प्रवृत्तं न कामचारोऽस्ति कुतः प्रयत्नः॥[1]

कांटों का नुकीलापन, मृग व पक्षियों में चित्रविचित्र रंग आदि होना स्वभाव से है। अन्य कोई कारण इस सृष्टि के निर्माण आदि का नहीं दिखता है। सब स्वाभाविक है—निर्हेतुक है, अन्य के प्रयत्न का इसमें सहयोग नहीं है।

नियतिवाद—प्रकृति के अटल नियमों को नियति कहते हैं। नियतिवाद का कहना कि जिसका जिस समय में जहाँ जो होना है, वह होता ही है। सूर्य पूर्व से उदित होगा, कमल जल में उत्पन्न होगा, गाय, बैल आदि पशुओं के चार पैर और मनुष्य के दो हाथ, दो पैर होंगे। ऐसा क्यों होता है? तो इसका एकमात्र कारण ऐसा होना नियत है। मंखलि गोशालक इसी नियतिवाद का अनुगामी था। उसका मत था कि प्राणियों के क्लेश आदि के लिये कोई हेतु नहीं, प्रत्यय नहीं, बिना प्रत्यय, बिना हेतु ही प्राणी सुख-दुःख, क्लेश पाते

---

१ सूत्रकृतांग टीका

हैं आदि[1]। नियतिवादी दृष्टिकोण के संबंध में सूत्रकृतांग टीका १/१/२ में संकेत किया गया है—

प्राप्तव्यो नियति वलाश्रयेण योऽथः सोऽवश्यं भवति नृणां शुभाऽशुभो वा।
भूतानां महति कृतेऽपि प्रयत्ने नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः॥

मनुष्यों को नियति के कारण जो भी शुभ और अशुभ प्राप्त होना है, वह अवश्य प्राप्त होता है। प्राणी कितना भी प्रयत्न कर ले, लेकिन जो नहीं होना है, वह नहीं ही होगा और जो होना है, उसे कोई रोक नहीं सकता है। सव जीवों का सव कुछ नियत है और वह अपनी स्थिति के अनुसार होगा।

यदृच्छावाद—जिस विषय में कार्यकारण परम्परा का सामान्य ज्ञान नहीं हो पाता है, उसके सम्वन्ध में यदृच्छा का सहारा लिया जाता है। यदृच्छा यानी अकस्मात ही कार्य-कारण का सम्वन्ध न जुड़ने पर नवीन कार्य की उत्पत्ति हो जाना। यदृच्छा में एक प्रकार की उपेक्षा की भावना झलकती है, उसमें कार्य-कारण भाव आदि पर विचार करने का अवसर नहीं है।

पौरुषवाद—पुरुपार्थ, प्रयत्न आदि इसके दूसरे नाम हैं। पुरुषार्थवाद का अपना दर्शन है। उसका कहना है कि संसार के प्रत्येक कार्य के लिये प्रयत्न होना जरूरी है। विना पुरुपार्थ के कोई भी कार्य सफल नहीं होता है। संसार में जो कुछ भी उन्नति होती है, वह सव पुरुषार्थ का परिणाम है। यदि पेट में भूख मालूम पड़ती है तो उसकी निवृत्ति के लिये प्रयत्न करना पड़ेगा, भूख की शांति विचारों से नहीं हो जायेगी। संसार में जितने भी पदार्थ है, उनका स्वभाव आदि अपना-अपना है, लेकिन उसकी अभिव्यक्ति पुरुषार्थ के विना नहीं हो सकती है। इसीलिये कहा है—

कुरु कुरु पुरुषार्थं निर्वृतानन्द हेतोः।

मुक्ति-सुख की प्राप्ति के लिये पुरुपार्थ करो! पुरुपार्थ करो!

उक्त वादों के अलावा सवसे प्रमुख वाद है—पुरुषवाद—ईश्वरवाद। ईश्वरवाद के अतिरिक्त पूर्वोक्त विचारधारायें तो अपने-अपने चिन्तन तक

---

१ मज्झिम निकाय २/३/६ में नियतिवाद का वर्णन किया गया है।

सीमित रहीं और ईश्वरवाद के विशेष प्रभावशाली बन जाने पर एक प्रकार से विलुप्त-सी हो गईं और प्रमुख रूप से ईश्वर को ही इस लोक-वैचित्र्य एवं जीवजगत के सुख-दुःख आदि का कारण माना जाने लगा।

पुरुषवाद—सामान्यतः पुरुष ही इस जगत का कर्ता, हर्ता और विधाता है—यह मत पुरुषवाद कहलाता है। पुरुषवाद में दो विचार गर्भित हैं—एक ब्रह्मवाद और दूसरा ईश्वरकर्तृत्ववाद। ब्रह्मवाद में ब्रह्म ही जगत के चेतन-अचेतन, मूर्त-अमूर्त आदि सभी पदार्थों का उपादान कारण है और ईश्वरवाद में ईश्वर स्वयंसिद्ध जड़-चेतन पदार्थों के परस्पर संयोजन में निमित्त बनता है। उपादान कारण और निमित्त कारण के द्वारा ब्रह्म और ईश्वर यह दो भेद पुरुषवाद के हो जाते हैं।

ब्रह्मवाद का मन्तव्य है कि जैसे मकड़ी जाले के लिये, वटवृक्ष जटाओं के लिये कारण होता है, उसी तरह पुरुष समस्त जगत के प्राणियों की सृष्टि, स्थिति, प्रलय का कारण है।[1] जो हुआ है, जो होगा जो मोक्ष का स्वामी है, आहार से वृद्धि को प्राप्त होता है, गतिमान है, स्थिर है, दूर है, निकट है, चेतन और अचेतन सबमें व्याप्त है और सबके बाह्य है, वह सब ब्रह्म ही है। इसलिये इसमें नानात्व नहीं है, लेकिन जो कुछ भी दिखता है वह ब्रह्म का प्रपंच दिखता है और ब्रह्म को कोई नहीं देखता है।[2]

---

१ ऊर्णनाम इवांशूनां चन्द्रकान्त इवाम्भसाम्।
प्ररोहाणामिव प्लक्षः स हेतु सर्व जन्मिनाम्॥

—उपनिषद्

२ क—पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशाना यदन्नेनाति रोहति॥

—ऋग्वेद पुरुषसूक्त

ख—यदेजति यन्नैजति यद् दूरे यदन्तिके।
यदन्तरस्य सर्वस्य यद्धुत सर्वस्यास्य बाह्यतः॥

—ईशावास्योपनिषद्

ग—सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन।
आरामं तस्य पश्यन्ति न तं पश्यति कंचन॥ —छान्दोग्य उ० ३।१४

ईश्वरवाद में ईश्वर को जगत में उत्पन्न होने वाले पदार्थों, जीवों को सुख-दुःख देने आदि के प्रति निमित्त माना है। इस विचार की पुष्टि के लिये वह कहता है कि स्थावर और जंगम (जड़-चेतन) रूप विश्व का कोई पुरुष विशेष कर्ता है। क्योंकि पृथ्वी, वृक्ष आदि पदार्थ कार्य हैं और इनके कार्य होने से किसी बुद्धिमान कर्ता के द्वारा निर्मित हैं, जैसे कि घट आदि पदार्थ। पृथ्वी आदि भी कार्य हैं अतः इनको बुद्धिमान कर्ता के द्वारा बनाया हुआ होना चाहिये और इनका जो बुद्धिमान कर्ता हैं, उसी का नाम ईश्वर है।

सृष्टि के निर्माण की तरह ईश्वर संसार के प्राणियों को सुख-दुःख देने, उन्हें स्वर्ग-नरक आदि प्राप्त कराने में कारण है। संसार के जीव तो दीन, और परतन्त्र हैं, वे तो ईश्वर की आज्ञा एवं प्रेरणा से सुख-दुःख का अनुभव करते है—

> अज्ञो जन्तुरनीशोऽयमात्मनः सुखदुखयोः।
> ईश्वरप्रेरितो गच्छेत् स्वर्गं वा श्वभ्रमेव वा ॥[१]

इसीप्रकार अन्यान्य विचारकों ने जगत-वैचित्र्य के सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व्यक्त किये हैं और उन विचारों का मण्डन कर दूसरों के विचारों का खंडन किया हैं। इस खंडन-मंडन का परिणाम यह हुआ कि साधारण जनों में भ्रान्तियां उत्पन्न हो गई और जो विचार सत्य को समझने-समझाने में सहायक बन सकते थे वे समन्वय के अभाव में सत्य के मूल मर्म को प्राप्त करने में असमर्थ हो गये।

लोक-वैचित्र्य : जैन दृष्टि

लेकिन भगवान महावीर ने लोक-वैचित्र्य के उक्त विचारों के संघर्ष का समाधान किया। यह समाधान दो प्रकार से किया गया। जिन विचारों का समन्वय किया जा सकता था उनका समन्वय करके और जिन विचारों की उपयोगिता ही नहीं थी उनका सयुक्तिक खंडन और विचित्रता के मूल कारण

---

१ महाभारत वनपर्व

का संकेत करके संसार के सामने उस सत्य को रखा जो जीवन-निर्माण के लिये उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

पूर्व में यह संकेत किया जा चुका है कि लोक में दो प्रकार के पदार्थ हैं—सचेतन और अचेतन। इन दोनों प्रकार के पदार्थों में वैचित्र्य, वैविध्य परिलक्षित होता है। जहाँ तक अचेतन पदार्थगत विचित्रताओं एवं आंशिक रूप से सचेतन तत्व की विविधताओं का सम्बन्ध है, उनके वारे में जैन दृष्टि का यह मंतव्य है कि काल आदि वादों का समन्वय कारण है। किसी कार्य की उत्पत्ति केवल एक ही कारण से नहीं हो जाती किन्तु उस कार्य की उत्पत्ति के लिये आवश्यक सभी कारणों के मिलने पर आश्रित है। ऐसा कभी नहीं होता है कि एक ही शक्ति अपने वल पर कार्य सिद्ध कर दे। हाँ यह हो सकता है कि किसी कार्य में कोई एक प्रधान कारण हो और दूसरे गौण, किन्तु यह नहीं होता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध कर दे।

यह कथन सयुक्तिक एवं प्रत्यक्ष है। आवाल वृद्ध जन साधारण इसी प्रकार का अनुभव करते हैं एवं प्रतीति भी इसी प्रकार की होती है। लेकिन पुरुषवाद—ब्रह्मवाद और ईश्वरकर्तृत्ववाद—तो लोक के सचेतन या अचेतन पदार्थों की विचित्रताओं और विविधताओं का किसी भी रूप में—मुख्य या गौण रूप में कारण नहीं वनता है। क्योंकि जिस रूप में ब्रह्म और ईश्वर के स्वरूप को माना गया है, उस रूप में उसकी सिद्धि नहीं होती है और उनके महत्व को हानि ही पहुंचती है। लोक के संवन्ध में पुरुषवाद की धारणा का पूर्व में यत्किंचित् संकेत किया है, लेकिन उस धारणा की निरर्थकता वतलाने के लिये यहाँ कुछ विशेष विचार करते हैं।

पुरुषवाद का प्रथम रूप ब्रह्मवाद है और उसका यह पक्ष है कि एक ब्रह्म ही सत् है, उसके नानारूप नहीं हैं, लेकिन जो कुछ भी नानारूपता हमें दिखलाई देती है वह सब प्रपंच है, यानी ब्रह्म का माया रूप है, लेकिन ब्रह्म स्वयं किसी को दिखलाई नहीं देता है और यह प्रपंच मिथ्या रूप है, क्योंकि उसमें मिथ्यारूपता प्रतीत होती है। जो मिथ्यारूप प्रतीत होता है, वह मिथ्या है, असत् है जैसे सीप के टुकड़े में चांदी की मिथ्या प्रतीति होती है। उसी

प्रकार यह दृश्यमान जगत-प्रपंच मिथ्या प्रतीत होता है, इसीलिये वह मिथ्या है। इसका अपरनाम ब्रह्माद्वैतवाद है।

लेकिन जब ब्रह्मवाद के उक्त मंतव्य को तर्क की कसौटी पर परखते हैं तो वह उपहसनीय-सा प्रतीत होता है। प्रथम तो यह कि यह प्रपंच रूप जगत यदि ब्रह्म की माया है तो यह माया ब्रह्म से भिन्न है, या अभिन्न। भिन्न मानने पर ब्रह्म और माया इन दो पदार्थों का सद्भाव मानना पड़ेगा। उस स्थिति में यह नहीं कहा जा सकता है कि मात्र एक ब्रह्म ही है, अद्वैत है। यदि माया और ब्रह्म अभिन्न हैं तो इस जागतिक प्रपंच की मायारूपता सिद्ध नहीं होती है। यदि कहा जाये कि माया सत्‌रूप है तो ब्रह्म और माया इन दो पदार्थों का सद्भाव होने से अद्वैत की सिद्धि नहीं होती है। माया को असत् माना जाये तो तीनों लोकों के पदार्थों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है।

दूसरी बात यह भी विचारणीय है कि ब्रह्म रूप एक ही तत्त्व विभिन्न पदार्थों के परिणमन में उपादान कैसे बन सकता है? जगत के समस्त पदार्थों को माया कह देने मात्र से उनका पृथक्-पृथक् अस्तित्व व व्यक्तित्व नष्ट नहीं किया जा सकता है। उनका व्यक्तित्व, अस्तित्व अपना-अपना है। एक भोजन करता है तो दूसरे को तृप्ति नहीं हो जाती है। एक जीव का सुख सबका सुख नहीं माना जा सकता है। अतः जगत के अनन्त जड़-चेतन सत् पदार्थों का अपलाप करके केवल एक पुरुष को अनन्त कार्यों के प्रति उपादान मानना काल्पनिक प्रतीत होता है और कल्पना से रमणीय भी मालूम होता है। जगत के पदार्थों में सत् का अन्वय देखकर एक सत् तत्व की कल्पना करना और उसे ही वास्तविक मानना प्रतीतिविरुद्ध है।

इस अद्वैतैकान्त की सिद्धि यदि अनुमान आदि प्रमाण से की जाती है तो हेतु और साध्य इन दो के पृथक्-पृथक् होने से अद्वैत की बजाय द्वैत की सिद्धि होती है तथा कारण-कार्य का, पुण्य-पाप का, कर्म के सुख-दुःख फल का, इहलोक-परलोक का, विद्या-अविधा का बन्ध-मोक्ष आदि का वास्तविक भेद ही नहीं रहता है। अतः प्रतीतिसिद्ध जगतव्यवस्था के लिये ब्रह्मवाद का मानना उचित नहीं है।

पुरुषवाद का दूसरा रूप है ईश्वरवाद—ईश्वरकर्तृत्ववाद। इस जगत-व्यापिनी विचित्रता का कर्ता ईश्वर है, यह ईश्वर कर्तृत्ववाद का सारांश है। ईश्वर की महानता बतलाते हुए ईश्वरवादी कहते हैं कि वह अद्वितीय है, सर्वव्यापी, स्वतन्त्र, नित्य है और ईश्वर के लिये प्रयुक्त इन विशेषणों का अर्थ इस प्रकार किया जाता है—

ईश्वर एक है—यानी अद्वितीय है। क्योंकि यदि बहुत से ईश्वरों को सँसार का कर्ता माना जायेगा तो एक दूसरे की इच्छा में विरोध होने पर एक वस्तु के अन्य रूप में भी निर्माण होने पर संसार में ऐक्य व क्रम का अभाव हो जायगा।

ईश्वर सर्वव्यापी है—यदि ईश्वर को नियत देशव्यापी माना जाये तो अनियत स्थानों के समस्त पदार्थों की यथारीति से उत्पत्ति सम्भव नहीं है।

ईश्वर सर्वज्ञ है—यदि ईश्वर को सर्वज्ञ न मानें तो यथायोग्य उपादान कारणों के न जानने पर वह उनके अनुरूप कार्यों की उत्पत्ति न कर सकेगा।

ईश्वर स्वतन्त्र है—क्योंकि वह अपनी इच्छा से ही संपूर्ण प्राणियों को सुख-दुख का अनुभव कराता है।

ईश्वर नित्य है—नित्य यानी अविनाशी, अनुत्पन्न और स्थिर रूप है। अनित्य मानने पर एक ईश्वर से दूसरे ईश्वर की उत्पत्ति, दूसरे से तीसरे की, इस प्रकार परम्परा का अन्त नहीं आ सकेगा और वह अपने अस्तित्व के लिये पराश्रित हो जायेगा।

ईश्वर को कर्ता मानने के सम्बन्ध में निम्नलिखित युक्तियों का अवलम्बन लिया जाता है[१]—

१—सृष्टि कार्य है अतः उसके लिये कोई कारण होना चाहिये।

२—सृष्टि के आदि में दो परमाणुओं में सम्बन्ध होने से द्व्यणुक की उत्पत्ति होती है, इस आयोजन क्रिया का कोई कर्ता होना चाहिये।

३—सृष्टि का कोई आधार होना चाहिये।

---

१ न्यायकुसुमांजलि

४—कपड़ा बुनने, घड़ा बनाने आदि कार्यों को सृष्टि के पहले किसी ने सिखाया होगा। इसलिये कोई आदि शिक्षक होना चाहिये।

५— कोई श्रुति का वनाने वाला होना चाहिये।

६—वेदवाक्यों का कोई कर्ता होना चाहिये।

७—दो परमाणुओं के सम्वन्ध से द्व्यणुक बनता है, इसका कोई ज्ञाता होना चाहिये।

ईश्वरकर्तृत्व वादियों की उक्त कल्पनायें स्वयं अपने आप में विचारणीय हैं। क्योंकि सर्वप्रथम यह सोचना होगा कि जगत के निर्माण करने में ईश्वर की प्रवृत्ति अपने लिए होती हैं अथवा दूसरों के लिए? ईश्वर कृतकृत्य है, उसकी संपूर्ण इच्छाओं की पूर्ति हो चुकी है, अत: वह अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने के लिए जगत का निर्माण नहीं कर सकता। यदि ईश्वर दूसरों के लिए सृष्टि की रचना करता है तो उसे बुद्धिमान नहीं कहा जा सकता है। इस स्थिति में ईश्वर की स्वतत्रता में रुकावट आती है और उसे दूसरे की इच्छा पर निर्भर रहना पड़ता है।

करुणा से वाध्य होकर भी ईश्वर सृष्टि का निर्माण नहीं करता है। उस स्थिति में जगत के संपूर्ण जीवों को सुखी होना चाहिए था। कोई दुखी नहीं हो, यह करुणाशील व्यक्ति ध्यान रखता है।

ईश्वर सर्वगत भी नहीं है। यदि शरीर से सर्वगत माना जाये तो ईश्वर के तीनों लोकों में व्याप्त हो जाने से दूसरे बनने वाले पदार्थों को रहने का अवकाश ही नहीं रहेगा और यदि ज्ञान की अपेक्षा सर्वगत माना जाये तो वेद का विरोध होता है। क्योंकि वेद में ईश्वर को सर्वगत मानने के वारे में कहा है—

विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतो मुखो विश्वतः पाणिरुत विश्वतः पाद्।[1]

ईश्वर सर्वत्र नेत्रों का, मुख का, हाथों और पैरों का धारक है, यानी वह अपने शरीर के द्वारा सर्वव्यापी है। शरीरवान मानने पर दूसरा यह भी दोष

---

१ शुक्ल ऋजुर्वेद संहिता १७।१९

आता है कि जनसाधारण की तरह उसका शरीर निर्माण अदृष्ट निमित्तक है—जैसे साधारण प्राणियों के शरीर का निर्माण उन उनके अदृष्ट (भाग्य, पूर्वकृत कर्म) से हुआ है, उसीप्रकार ईश्वर का शरीर भी अदृष्ट के कारण बना है और अशरीरी होने पर दृश्यमान पदार्थों की उससे उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य की उत्पत्ति होते देखी जाती है।

यदि यह कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव है तो उसे जगत निर्माण के कार्य से कभी विश्राम नहीं मिलेगा और यदि विश्राम लेता है तो उसके स्वभाव को हानि पहुँचती है। यदि कहा जाये कि ईश्वर का जगत रचने का स्वभाव नहीं है तो ईश्वर कभी भी जगत को नहीं बना सकता है। सृष्टि और संहार यह दो अलग-अलग कार्य हैं और ईश्वर जगत की सृष्टि व संहार दोनों कार्य करता है, तो उसमें दो स्वभाव मानने पड़ेंगे। क्योंकि निर्माण और नाश दो भिन्न-भिन्न कार्य है और एक स्वभाव से ही दोनों कार्य होने पर सृष्टि व संहार एक हो जायेंगे तथा एक स्वभाव रूप कारण से परस्पर विरोधी दो कार्य उत्पन्न नहीं हो सकते हैं।

इसके अतिरिक्त यह भी विचारणीय है कि जब जगत में सचेतन और अचेतन पदार्थ अनादिकाल से अपने अस्तित्व एवं स्वरूप से स्वतंत्र सिद्ध हैं तथा ईश्वर ने भी असत् से किसी एक भी सत् को उत्पन्न नहीं किया है और वे सब परस्पर सहकारी होकर प्राप्त सामग्री के अनुसार परिणमन करते रहते हैं, तब सर्वशक्तिमान ईश्वर को मानने की आवश्यकता भी क्या है? साथ ही जगत के उद्धार के लिए किसी ईश्वर की कल्पना करना तो पदार्थों के निजस्वरूप को ही परतंत्र बना देना है। प्रत्येक प्राणी अपने विवेक और सदाचार से अपनी उन्नति के लिए उत्तरदायी है, न कि अन्य किसी विधाता के प्रति जिम्मेदार है और न उससे प्रेरित होकर ही वह कर्तव्य एवं अकर्तव्य का बोध प्राप्त करता है। अतः जगत-वैचित्र्य के लिये पुरुषवाद निरर्थक है।

पूर्व कथन से यह स्पष्ट हो जाता है कि सचेतन प्राणियों में विद्यमान विषमता के कारण ईश्वर आदि नहीं हैं किन्तु स्वयं जीव अपने कर्मों से विकास व विनाश, उत्थान व पतन के मार्ग पर अग्रसर होता है। इसीलिए जैन दृष्टि ने कर्मवाद को जीव जगत की विचित्रता का कारण माना है। यह दृष्टि

कल्पित नहीं किन्तु वास्तविक तथ्यों पर आधारित है। कर्मवाद का मूल प्रयोजन जगत की दृश्यमान विषमता की समस्या को सुलझाना है।

कर्म का सामान्य अभिधेयार्थ क्रिया है, लेकिन जब उसके व्यंजनात्मक अर्थ को ग्रहण करते हैं तो जीव द्वारा होने वाली क्रिया से आत्मशक्ति को आच्छादित करने वाले पौद्गलिक परमाणुओं का संयोग होता है और इस संयोग के द्वारा जीव को विविध अवस्थाओं की प्राप्ति होना कर्म कहलाता है और यही कर्म प्राणिजगत की स्वरूप स्थिति की विभिन्नताओं, विविधताओं, विषमताओं का बीज है। इस बीज के द्वारा जीव नाना प्रकार की आधि, व्याधि, और उपाधियों को प्राप्त करता है—

कम्मुणा उवाही जायइ।[1]

इसी बात को संत तुलसीदासजी के शब्दों में कहेंगे—

कर्म प्रधान विश्व करि राखा,
जो जस करहि सो तस फल चाखा।

प्राणी जैसा करता है, वैसा ही फल प्राप्त होता है। इसमें किसी प्रकार की मतभिन्नता नहीं है। जनसाधारण में तो कर्म के बारे में यह मान्यता है—करमगति टारी नाहिं टरै। भारतीय तत्त्व चिन्तकों ने तो कर्मसिद्धान्त को अति महत्वपूर्ण स्थान दिया है। जितने भी आत्मवादी—जैन सांख्यादि, अनात्मवादी बौद्ध एवं यहां तक कि ईश्वरवादी विचारक हैं, सभी ने कर्म की सत्ता और उसके द्वारा जीव को सुख-दुःख आदि की प्राप्ति होना माना है और कर्मविपाक के कारण यह जीव विविध प्रकार की विषमताओं को प्राप्त करता है। जिसने जैसा कर्म का बन्ध किया है, उसके अनुसार वैसी-वैसी उसकी मति और परिणति होती जाती है। पूर्वबद्ध कर्म उदय में आता है और उसी के अनुसार नवीन कर्मबन्ध होता जाता है। यह चक्र अनादि से चल रहा है।

कर्म के आशय को स्पष्ट करने के लिए विभिन्न दार्शनिकों ने माया, अविद्या, प्रकृति, अपूर्व, वासना, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार आदि शब्दों का

---

१ आचारांग ३।१

प्रयोग किया और उन सब का फलितार्थ यही निकलता है कि जीव द्वारा की गई प्रत्येक क्रिया, प्रवृत्ति ऐसे संस्कारों का निर्माण करती है जिससे यह जीव तत्काल या कालान्तर में सुख-दुःख रूप फल को प्राप्त करता रहता है और वे जीव को शुभ-अशुभ फल प्राप्त कराने के कारण बनते हैं। लेकिन जब यह आत्मा अपनी विशेष शक्ति से समस्त संस्कारों से रहित हो वासनाशून्य हो जाती है यब वह मुक्त कहलाती है और इस मुक्ति के बाद पुनः कर्म आत्मा के साथ सम्बद्ध नहीं होते हैं और न अपना फल ही देते हैं।

सचेतन तत्त्व की विचित्रता का समाधान कर्म को माने बिना नहीं हो सकता है। आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों के अनुसार वैसे स्वभाव और परिस्थितियों का निर्माण करती है, जिसका प्रभाव बाह्य सामग्री पर पड़ता है और उसके अनुसार परिणमन होता है। तदनुसार कर्म-फल की प्राप्ति होती है। जब कर्म के परिपाक का समय आता है तब उसके उदय काल में जैसी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की सामग्री होती है, वैसा ही उसका तीव्र, मन्द, मध्यम फल प्राप्त होता रहता है।[1]

अब प्रश्न यह होता है कि जीव के साथ कर्मों का सम्बन्ध जुड़ा कैसे, जिससे वह सुख-दुःख आदि रूप विषमताओं का भोक्ता माना जाता है और कर्म का उस-उस रूप में फल प्राप्त होता है? तो इसका उत्तर है कि आत्मा के ज्ञानदर्शनमय होने पर भी वैकारिक—कषायात्मक प्रवृत्ति के द्वारा कर्म पुद्गलों को ग्रहण करता रहता है[2] और इस ग्रहण करने की प्रक्रिया में मन-वचन-काय का परिस्पन्दन सहयोगी बनता है। जब तक कषायवृत्ति जीव में विद्यमान है तब तक तीव्र विपाकोदय वाले (फल देने वाले) कर्मों का बन्ध होता है। इन बँधे हुए कर्मों के अनुसार शुभाशुभ फल प्राप्त होता रहता है। इस फल-प्राप्ति का न तो अन्य कोई प्रदाता है और न सहायक। यदि कर्मफल की प्राप्ति में दूसरे को सहायक माना जाये तो स्वकृत कर्म निरर्थक हो जायेंगे। दूसरी बात यह भी है कि यदि जीव को कर्मफल की प्राप्ति दूसरे के द्वारा होना

---

१ सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णा फला हवंति। दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णा फला हवंति।

—दशाश्रुत० ६

२ सकषायत्वाज्जीवः कर्मणो योग्यान् पुद्गलानादत्ते। —तत्वार्थसूत्र ८।२

माना जाये तो इसमें जीव के पुरुषार्थ की हानि ही है। जब जीव को फल की प्राप्ति पराधीन है तो फिर सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं असत्कर्मों से निवृत्ति के लिए उत्साह जाग्रत नहीं होगा और न इस ओर प्रयत्न, पुरुषार्थ किया जायेगा।

उक्त कथन का सारांश यह है कि संसारी जीवों में दृश्यमान विचित्रताओं विषमताओं आदि का कारण कर्म है। कर्माधीन होकर ही संसार के अनन्त जीव विभिन्न प्रकार के शरीरों, इन्द्रियों की न्यूनाधिकता वाले हैं। इतना ही नहीं, उनके आत्मगुणों के विकास की अल्पाधिकता का कारण भी कर्म हैं।

मार्गणाओं में कर्मबन्ध के कारण शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से युक्त इन्हीं संसारी जीवों का वर्गीकरण किया गया है। मार्गणायें जीवों के विकास की सूचक नहीं हैं किन्तु स्वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से वर्गीकरण करके उनका व्यवस्थित रूप दिया गया है जिससे कि उनकी शारीरिक क्षमता का और क्षमता के कारण होने वाले आध्यात्मिक विकास की तरतमता का सही रूप में अंकन किया जा सके।

मार्गणाओं में बन्धस्वामित्व के ज्ञान की उपयोगिता

तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं के आधार से जीवों की कर्मबन्ध की योग्यता का दिग्दर्शन कराया गया है, तो प्रश्न होता है कि जब दूसरे कर्मग्रन्थ में गुणस्थानों के अनुसार समस्त संसारी जीवों के चौदह विभाग करके प्रत्येक विभाग की कर्मविषयक बन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता सम्बन्धी योग्यता का वर्णन किया जा चुका है और उससे सभी जीवों के आध्यात्मिक उत्कर्ष-अपकर्ष का ज्ञान हो जाता है तब मार्गणाओं के आधार से पुनः उनकी बन्धयोग्यता बतलाने की क्या उपयोगिता है और ऐसे प्रयास की आवश्यकता भी क्या है?

इसका उत्तर यह है कि समान गुणस्थान होने पर भी भिन्न-भिन्न जाति के जीवों की, न्यूनाधिक इन्द्रिय वाले जीवों की, भिन्न-भिन्न लिंग (वेद) धारी जीवों की, विभिन्न कषाय परिणाम वाले जीवों की, योग वाले जीवों की तथा इसीप्रकार ज्ञान-दर्शन-संयम आदि आत्मगुणों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न प्रकार के जीवों की बन्धयोग्यता बतलाने के लिये मार्गणाओं का आधार लिया है। इससे दो लाभ हैं—एक तो यह है कि अमुकगति आदि वा

के गुणस्थान कितने हो सकते हैं और दूसरा यह कि गुणस्थानों के समान होने पर भी जीव अपने शरीर, इन्द्रिय आदि की अपेक्षा कितने कर्मों का वन्ध करते हैं। यह कार्य गुणस्थानों की अपेक्षा ही बन्धस्वामित्व वतलाने से सम्भव नहीं हो सकता है। अतः आध्यात्मिक दृष्टि वालों को मनन करने योग्य है।

ग्रन्थ परिचय

कर्मसिद्धान्त का ज्ञान कराने वाले अनेक ग्रन्थ हैं। उनमें कर्मविपाक, कर्मस्तव, वन्धस्वामित्व, षडशीति, शतक और सप्ततिका नामक छह कर्मग्रंथ हैं। इनको प्राचीन षट कर्मग्रन्थ कहा जाता है। इनमें रचयिता भी भिन्न-भिन्न आचार्य हैं और रचना काल भी पृथक्-पृथक् है। इनके साथ प्राचीन विशेषण उनका पुरानापन वतलाने के लिये नहीं लगाया जाता है किन्तु उनके आधार से वाद के वने नवीन कर्मग्रन्थों से उनका पार्थक्य वतलाने के लिये लगाया गया है।

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि ने उक्त प्राचीन कर्मग्रन्थों का अनुसरण करते हुए पाँच कर्मग्रन्थ वनाये हैं। जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—

१. कर्मविपाक, २. कर्मस्तव, ३. वन्धस्वामित्व, ४. षडशीति, ५. शतक। ये कर्मग्रन्थ परिमाण में प्राचीन कर्मग्रन्थों से छोटे हैं, लेकिन उनका कोई भी वर्ण्य विषय छूटने नहीं पाया है और अन्य अनेक नये विषयों का भी संग्रह किया गया है। फलतः कर्मसाहित्य के अध्येताओं ने इन ग्रन्थों को अपनाया और कतिपय विद्वानों के सिवाय साधारण जन यह भी नहीं जानते कि श्री देवेन्द्र-सूरि के कर्मग्रंथों के अलावा अन्य कोई प्राचीन कर्मग्रन्थ भी हैं।

सामान्य रूप से कर्मग्रंथों का प्रतिपादित विषय कर्मसिद्धान्त है। लेकिन जव प्रत्येक ग्रंथ के वर्ण्य विषय को जानने की ओर उन्मुख होते हैं तो यह ज्ञातव्य है कि प्रथम कर्मग्रंथ में ज्ञानावरण आदि कर्मों और उनके भेदप्रभेदों के नाम तथा उनके फल का वर्णन है। दूसरे कर्मग्रंथ में गुणस्थानों का स्वरूप समझाकर उनमें कर्म-प्रकृतियों के वन्ध, उदय, उदीरणा और सत्ता का विचार किया गया है। तीसरे कर्मग्रंथ में मार्गणाओं के आश्रय से कर्म प्रकृतियों के वन्ध के स्वामियों का वर्णन किया गया है कि अमुक मार्गणा वाला जीव किन-किन और कितनी प्रकृतियों का वन्ध करता है। चतुर्थ कर्मग्रंथ में जीवस्थान, मार्गणास्थान, गुण-

स्थान, भाव और संख्या ये विभाग करके उनका विस्तार से वर्णन किया गया है। पंचम कर्मग्रंथ में प्रथम कर्मग्रन्थ में वर्णित प्रकृतियों में से कौन-कौन सी ध्रुव, अध्रुव, बन्ध, उदय, सत्ता वाली हैं, कौन-सी सर्व-देशघाती, अघाती, पुण्य, पाप, परावर्तमान,अपरावर्तमान हैं और उसके वाद उन प्रकृतियों में कौन-सी क्षेत्र, जीव, भव और पुद्गल विपाकी हैं—यह वतलाया गया है। इसके वाद कर्मप्रकृतियों के प्रकृति, स्थिति, रस और प्रदेश वन्ध इन चार प्रकार के वन्धों का स्वरूप वतलाया गया है तथा उनसे संवन्धित अन्य कथनों का समावेश करते हुए अन्त में उपशम श्रेणि, क्षपक श्रेणि का कथन किया गया है।

तृतीय कर्मग्रन्थ का वर्ण्य-विषय

प्रस्तुत तृतीय कर्मग्रन्थ में गतिआदि १४ मार्गणाओं के उत्तर भेदों में सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा कर्मप्रकृतियों के वंध को वतलाया है। यानी किस मार्गणा वाला जीव कितनी-कितनी कर्मप्रकृतियों का वन्ध करता है। यद्यपि ग्रन्थ के प्रारम्भ में मार्गणाओं और उनके उत्तर भेदों का नामोल्लेख नहीं है लेकिन क्रम-क्रम से गति, इन्द्रिय, काय आदि मार्गणाओं के प्रभेदों का आश्रय लेकर क्रमवद्ध वन्धस्वामित्व का कथन किया है, जिससे अध्येता मार्गणाओं के मूल और उनके अवान्तर भेदों को सहज में समझ लेता है।

इस ग्रन्थ और प्राचीन कर्मग्रन्थ का वर्ण्यविपय समान है लेकिन इन दोनों में यह अन्तर है कि प्राचीन में विषय वर्णन कुछ विस्तार से किया गया है और इसमें संक्षेप से। लेकिन उसका कोई भी विपय इसमें छूटा नहीं है। गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी इस ग्रन्थ के विपय का वर्णन किया गया है, लेकिन उसकी वर्णनशैली कुछ भिन्न है तथा जो विपय तीसरे कर्मग्रन्थ में नहीं है, परन्तु जिस विपय का वर्णन अध्ययन करने वालों के लिये उपयोगी है, वह सव कर्मकांड में है। तीसरे कर्मग्रन्थ में मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का वर्णन किया गया है किन्तु कर्मकांड में वन्धस्वामित्व के अतिरिक्त उदय, उदीरणा व सत्ता-स्वामित्व का भी वर्णन है। यह वर्णन अभ्यासियों के लिये उपयोगी होने से परिशिप्ट के रूप में संकलित किया गया है।

संभवतः कर्मग्रन्थ और गोम्मटसार कर्मकांड के वर्णन में कहीं-कहीं भिन्नता हो सकती है। लेकिन यह भिन्नता आंशिक होगी और उसकी अपेक्षा समानता अधिक है। अतः जिज्ञासुजन 'वादे वादे जायते तत्वबोधः' की दृष्टि से गो० कर्म-काण्ड के उद्धृत अंश की उपयोगिता समझकर कर्मसाहित्य के तुलनात्मक अध्ययन की ओर प्रवृत्त हों यह आकांक्षा है।

अन्त में पाठकों को अब तक कर्म साहित्य पर लिखित विविध ग्रन्थों का ऐतिहासिक परिचय भी करा दिया गया है, ताकि विषय के जिज्ञासु उन ग्रन्थों के परिशीलन की ओर आकृष्ट हों।

प्रथम तीनों भाग की मूल गाथाएं भी इसलिए दी गई है कि कर्मग्रन्थ के रसिक उन्हें कण्ठस्थ करके पूरे ग्रन्थ का हार्द हृदयंगम कर सकें। कुल मिलाकर प्रयत्न यह किया है कि ग्रन्थ अनेक दृष्टियों से उपयोगी बन सके। मूल्यांकन पाठकों के हाथ में है।

—श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'
—देवकुमार जैन

तृतीय भाग

कर्मग्रन्थ

[बन्ध-स्वामित्व]

वन्दे वीरम्

श्रीमद् देवेन्द्रसूरि विरचित

बंधस्वामित्व

[तृतीय कर्मग्रन्थ]

बंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसुं वुच्छं, समासओ बंधसामित्तं ॥१॥

गाथार्थ—कर्मबन्ध के विधान से विमुक्त, चन्द्रमा के समान सौम्य श्री वर्धमान (वीर) जिनेश्वर को नमस्कार करके गति आदि मार्गणाओं में वर्तमान जीवों के बन्धस्वामित्व को संक्षेप में कहता हूँ ।

विशेषार्थ—ग्रन्थकार ने ग्रन्थारम्भ में मंगलाचरण करते हुए ग्रन्थ में वर्णित विषय का संक्षेप में संकेत किया है ।

आत्मप्रदेशों के साथ कर्म के सम्बन्ध को बन्ध कहते हैं और यह सम्बन्ध मिथ्यात्वादि कर्मबन्ध के कारणों द्वारा होता है । अर्थात् मिथ्यात्वादि कारणों द्वारा आत्मा के साथ होने वाले कर्मबन्ध के सम्बन्ध को कर्मविधान कहते हैं । इस कर्मविधान से विमुक्त यानी मिथ्यात्वादि कारणों से सर्वथा रहित होकर चन्द्रमा के समान प्रकाशमान, सौम्य और केवलज्ञानरूप श्री—लक्ष्मी से समृद्ध वर्धमान—वीर जिनेश्वर की वन्दना करके संसार में परिभ्रमण करने वाले जीवों के गति आदि मार्गणाओं की अपेक्षा संक्षेप में बन्धस्वामित्व—कौन-सा जीव कितनी प्रकृतियों को बांधता है—का वर्णन इस ग्रंथ में आगे किया जा रहा है ।

मार्गणा—गति आदि जिन अवस्थाओं को लेकर जीव में गुणस्थान, जीवस्थान आदि की मार्गणा—विचारणा, गवेषणा की जाती है, उन

अवस्थाओं को मार्गणा कहते हैं। अर्थात् जाहि व जासु न जीव मग्गिज्जंते जहा तहा दिट्ठा'—जिस प्रकार से अथवा जिन अवस्था-पर्यायों आदि में जीवों को देखा गया है, उनकी उसी रूप मे विचारणा, गवेषणा करना मार्गणा कहलाता है।

संसार में जीव अनन्त हैं। प्रत्येक जीव का वाह्य और आभ्यंत जीवन अलग-अलग होता है। शरीर का आकार, इन्द्रियाँ, रंगरूप विचारशक्ति, मनोवल आदि विषयों में एक जीव दूसरे जीव से भिन्न है। यह भेद कर्मजन्य औदयिक, औपशमिक, क्षायोपशमिक और क्षायिक भावों के कारण तथा सहज पारिणामिक भाव को लेकर होता है। इन अनन्त भिन्नताओं को ज्ञानियों ने चौदह विभागों में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों के अवान्तर भेद ६२ होते हैं। जीवों के वाह्य और आभ्यन्तर जीवन के इन विभागों को मार्गणा कहा जाता है।

ज्ञानियों ने जीवों के आध्यात्मिक गुणों के विकासक्रम को ध्यान में रखते हुए, दूसरे प्रकार से भी चौदह विभाग किये हैं। इन विभागों को गुणस्थान कहते हैं।

ज्ञानीजन जीव की मोह और अज्ञान की प्रगाढ़तम अवस्था को निम्नतम अवस्था कहते हैं, और मोह रहित सम्पूर्ण ज्ञानावस्था की प्राप्ति को जीव की उच्चतम अवस्था अथवा मोक्ष कहते हैं। निम्नतम अवस्था से शनैः-शनैः मोह के आवरणों को दूर करता हुआ जीव आगे वढ़ता है, और आत्मा के स्वाभाविक ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि गुणों का विकास करता है। इस विकास मार्ग में जीव अनेक अवस्थाओं में से गुजरता है। विकासमार्ग की इन क्रमिक अवस्थाओं को गुणस्थान कहा जाता है। इन क्रमिक असंख्यात अवस्थाओं को भी ज्ञानियों ने चौदह भागों में विभाजित किया है। इन चौदह विभागों को शास्त्र गुणस्थान कहते हैं।

मार्गणा और गुणस्थान में अन्तर—मार्गणा में किया जाने वाला

ाचार कर्म अवस्थाओं के तरतम भाव का विचार नहीं है, किन्तु ारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक भिन्नताओं से घिरे हुए जोवों ा विचार मार्गणाओं द्वारा किया जाता है। जबकि गुणस्थान कर्म-टलों के तरतम भावों और योगों की प्रवृत्ति-निवृत्ति का ज्ञान राते हैं।

मार्गणाएँ जीव के विकास-क्रम को नहीं बताती हैं, किन्तु इनके वाभाविक-वैभाविक रूपों का अनेक प्रकार से पृथक्करण करती हैं। ावकि गुणस्थान जीव के विकास-क्रम को बताते हैं और विकास की क्रमिक अवस्थाओं का वर्गीकरण करते हैं। मार्गणाएँ सहभावी हैं, और गुणस्थान क्रमभावी हैं। अर्थात् एक ही जीव में चौदह मार्ग-गाएँ हो सकती हैं, जबकि गुणस्थान एक जीव में एक ही हो सकता है। पूर्व-पूर्व गुणस्थानों को छोड़कर उत्तरोत्तर गुणस्थान प्राप्त किये जा सकते हैं और आध्यात्मिक विकास को बढ़ाया जा सकता है, किंतु पूर्व-पूर्व की मार्गणाओं को छोड़कर उत्तरोत्तर मार्गणाएँ प्राप्त नहीं की जा सकती हैं और उनसे आध्यात्मिक विकास की सिद्धि भी नहीं हो सकती है। तेरहवें गुणस्थान को प्राप्त यानी केवलज्ञान को प्राप्त करने वाले जीव में कषायमार्गणा के सिवाय वाकी की सब मार्गणाएँ होती हैं। परन्तु गुणस्थान तो मात्र एक तेरहवाँ ही होता है। अंतिम अवस्था प्राप्त जीव में भी तीन-चार मार्गणाओं को छोड़कर वाकी की सब मार्गणाएँ होती है, जबकि गुणस्थानों में सिर्फ चौदहवाँ गुणस्थान ही होता है।

इस प्रकार मार्गणाओं और गुणस्थानों में परस्पर अन्तर है। गुणस्थानों का कथन दूसरे कर्मग्रन्थ में किया जा चुका है। यहाँ पर मार्गणाओं की अपेक्षा जीव के कर्मबन्ध-स्वामित्व को समझाते हैं।

जिस प्रकार गुणस्थान चौदह होते हैं, और उनके मिथ्यात्व, सासादन आदि चौदह नाम हैं, उसी प्रकार मार्गणाएँ भी चौदह होती हैं तथा उनके नाम इस प्रकार हैं—

१. गतिमार्गणा, २. इन्द्रियमार्गणा, ३. कायमार्गणा, ४. यं मार्गणा, ५. वेदमार्गणा, ६. कषायमार्गणा, ७. ज्ञानमार्ग ८. संयममार्गणा, ९. दर्शनमार्गणा, १०. लेश्यामार्गणा, ११. भ मार्गणा, १२. सम्यक्त्वमार्गणा, १३. संज्ञिमार्गणा, १४. आहा मार्गणा ।[1]

इनके लक्षण इस प्रकार हैं—

१. गति गति नाम कर्म के उदय से होने वाली जीव की पर्या को अथवा मनुष्य आदि चारों गतियों (भव) में जाने को ग कहते हैं ।[2]

२. इन्द्रिय—आवरण कर्म का क्षयोपशम होने पर भी स्व पदार्थ का ज्ञान करने में असमर्थ ज्ञस्वभाव रूप आत्मा को पदार्थ क ज्ञान कराने में निमित्तभूत कारण को इन्द्रिय कहते हैं ।[3] अथवा जिसके द्वारा आत्मा जाना जाये, उसे इन्द्रिय कहते है ।[4] अथवा इन्द्र के समान[5]

---

१ क—गइइन्दिए य काए जोए वेए कसायनाणेसु ।
संजमदंसणलेसा भव सम्मे संन्नि आहारे ॥
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ ९

ख—गइइन्दियेसु काये जोगे वेदे कसायणाणे य ।
संजमदंसणलेस्साभविया सम्मत्त सण्णि आहारे ॥
—गो० जीवकांड १४१

२ जं णिरय-तिरिक्ख-मणुस्स-देवाणं णिव्वत्तयं कम्मं तं गदि णामं ।
—धवला १३।५, ५, १०१।३६३।९

३ इन्दतीति इन्द्र आत्मा । तस्य ज्ञस्वभावस्य तदावरण क्षयोपशमे सति स्वयमर्थान् गृहीतुमसमर्थस्य यदर्थोपलब्धिलिंगं तदिन्द्रस्य लिंगमिन्द्रियमित्युच्यते ।
—सर्वार्थसिद्धि १।१४

४ आत्मनः सूक्ष्मस्यास्तित्वाधिगमे लिंगमिन्द्रियम् ।
—सर्वार्थसिद्धि १।१४

५ अहमिंदा जह देवा अविसेसं अहमहं त्ति मण्णंता ।
ईसंति एक्कमेक्कं इन्दा इव इन्दियं जाणे ॥
—पंचसंग्रह ६५

अपने-अपने स्पर्शादिक विषयों में दूसरे की (रसना आदि की) अपेक्षा न रखकर स्वतंत्र हों, उन्हें इन्द्रिय कहते हैं।

३. काय—जाति नामकर्म के अविनाभावी त्रस और स्थावर नामकर्म के उदय से होने वाली आत्मा की पर्याय को काय कहते हैं।

(४) योग—मन, वचन, काया के व्यापार को योग कहते हैं, अथवा पुदगलविपाकी शरीर नामकर्म के उदय से मन-वचन-काय से युक्त जीव की जो कर्मों के ग्रहण करने में कारण भूत शक्ति है, उसे योग कहते हैं।[1]

(५) वेद—नोकषाय मोहनीय के उदय से ऐन्द्रिय-रमण करने की अभिलाषा को वेद कहते हैं।[2]

(६) कषाय—जो आत्मगुणों को कषे (नष्ट) करे अथवा जो जन्म-मरण रूपी संसार को वढ़ाये अथवा सम्यक्त्व, देशचारित्र, सकलचारित्र, यथाख्यातचारित्र को न होने दे, उसे कषाय कहते हैं।[3]

(७) ज्ञान—जिसके द्वारा जीव त्रिकाल विषयक समस्त द्रव्य और उनके गुण तथा उनकी अनेक प्रकार की पर्यायों को जाने, उसे ज्ञान कहते हैं।[4]

---

१ मणसा वाया काएण वा वि जुत्तस्स विरिय परिणामो।
जिहप्पणिजोगो जोगो त्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठो॥

—पंचसंग्रह ८८

२ आत्मप्रवृत्तेर्मैथुनसंमोहोत्पादो वेदः।

—धवला १।१।१।४

३ क—कषत्यात्मानं हिनस्ति इति कषाय इत्युच्यते।
ख—चारित्रपरिणाम कषणात् कषायः।

—राजवार्तिक ६।७

४ ज्ञायते-परिच्छिद्यते वस्त्वनेनास्मादस्मिन्वेति वा ज्ञानं, जानाति—स्वविषयं परिच्छिनत्तीति वा ज्ञानं।

—अनुयोगद्वार सूत्र चूर्णि

(८) **संयम**—सावद्य योग से निवृत्ति अथवा पाप व्यापार रूप आरम्भ-समारंभों से आत्मा जिसके द्वारा काबू में आवे अथवा पंच महाव्रत रूप यमों का पालन अथवा पांच इन्द्रियों के जय को संयम कहते हैं।

(९) **दर्शन**—सामान्य-विशेषात्मक पदार्थ के विशेष अंश का ग्रहण न करके केवल सामान्य अंश का जो निर्विकल्प रूप से ग्रहण होता है, उसे दर्शन कहते हैं।[1]

(१०) **लेश्या**—जिनके द्वारा आत्मा कर्मों से लिप्त हो, जीव के ऐसे परिणामों को लेश्या कहते हैं अथवा कषायोदय से अनुरंजित योगप्रवृत्ति को लेश्या कहते हैं।[2]

(११) **भव्य**—जिसमें मोक्षप्राप्ति की योग्यता हो उसे भव्य कहते हैं।

(१२) **सम्यक्त्व**—छह द्रव्य, पंच अस्तिकाय, नव तत्त्वों का जिनेन्द्र देव ने जैसा कथन किया है, उसी प्रकार से उनका श्रद्धान करना अथवा तत्वार्थ के श्रद्धान को सम्यक्त्व कहते हैं।[3]

---

१ दर्शनं शासनं सामान्यावबोध लक्षणम्।

—षड्दर्शन समुच्चय २।१

२ क—लिप्पइ अप्पी कीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवोत्ति होइ लेसा लेसागुणजाणयक्खाया॥

—पंचसंग्रह १।८

ख—भावलेश्या कषायोदयरञ्जिता योगप्रवृत्तिरिति कृत्वा औदयिकीत्युच्यते।

—सर्वार्थसिद्धि २।६

३ क—छह दव्व णव पयत्था सत्त तच्च णिद्दिट्ठा।
सद्दहइ ताण रूवं सो सद्दिट्ठी मुणेयव्वो॥

—दर्शनपाहुड १।२

ख—तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्।

—तत्वार्थसूत्र १।२

(१३) संज्ञी—अभिलाषा को संज्ञा कहते हैं[1] और यह जिसके हो वह संज्ञी कहलाता है। अथवा नोइन्द्रियावरण कर्म के क्षयोपशम को या तज्जन्य ज्ञान को संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा जिसके हो उसको संज्ञी कहते हैं।[2] अथवा जिसके लब्धि या उपयोग रूप मन पाया जाये उसको संज्ञी कहते हैं।[3]

(१४) आहार शरीर नामकर्म के उदय से देह, वचन और द्रव्यमन रूप बनने योग्य नोकर्मवर्गणा का जो ग्रहण होता है उसको आहार कहते हैं। अथवा तीन शरीर और छह पर्याप्तियों के योग्य पुद्गलों के ग्रहण को आहार कहते हैं।[4]

मूल में मार्गणाओं के उक्त चौदह भेदों में से प्रत्येक मार्गणा के उत्तरभेदों की संख्या और नाम यह हैं[5]—

---

१ आहारादि विषयाभिलाषः संज्ञेति। —सर्वार्थसिद्धि २।२४

२ णोइंदिय आवरण खओवसमं तज्जबोहणं सण्णा।
सा जस्सा सो दु सण्णी इदरो सेसिंदिय अवबोहो॥
—गो० जीवकांड ६६०

३ संज्ञिनः समनस्काः। —तत्वार्थसूत्र २।२४

४ त्रयाणां शरीराणां षण्णां पर्याप्तीनां योग्य पुद्गलग्रहणमाहारः।
—सर्वार्थसिद्धि २।३०

५ सुरनर तिरि निरयगई इगबियतियचउपणिंदि छक्काया।
भूजलजलणानिलवण तसा य मणवयणतणु जोगा॥
वेयनरित्थिनपुंसा कसाय कोह मयमायलोभ त्ति।
मइसुयवहिमणकेवल विहंगमइसुअनाण सागारा॥
सामाइछेयअपरिहा रसुहुमअहखायदेसजयअजया।
चक्खुअचक्खूओही केवलदंसण अणागारा॥
किण्हा नीला काऊ तेऊ पम्हा य सुक्क भव्वियरा।
वेयगखइगुवसममिच्छमीससासाण सन्नियरे॥
आहारे अरभेआ·····································।
—चतुर्थ कर्मग्रन्थ १०–१४

मार्गणा नाम	भेद संख्या	नाम
१. गतिमार्गणा	चार	नरक, तिर्यंच, मनुष्य, देव।
२. इन्द्रियमार्गणा	पांच	एकेन्द्रिय द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय।
३. कायमार्गणा	छह	पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, वनस्पति, त्रस।
४. योगमार्गणा	तीन	मन, वचन, काय।
५. वेदमार्गणा	तीन	पुरुष, स्त्री, नपुंसक।
६. कषायमार्गणा	चार	क्रोध, मान, माया, लोभ।
७. ज्ञानमार्गणा	आठ	मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्यय केवल, मतिअज्ञान, श्रुताज्ञान अवध्यज्ञान (विभंग ज्ञान)।
८. संयममार्गणा	सात	सामायिक, छेदोपस्थानीय, परिहारविशुद्धि, सूक्ष्मसम्पराय, यथाख्यात देशविरति अविरति।
९. दर्शनमार्गणा	चार	चक्षु, अचक्षु, अवधि, केवल
१०. लेश्यामार्गणा	छह	कृष्ण, नील, कापोत, तेज, पद्म, शुक्ल।
११. भव्यमार्गणा	दो	भव्य, अभव्य।
१२. सम्यक्त्वमार्गणा	छह	वेदक, क्षायिक, उपशम, मिथ्यात्व, मिश्र, सासादन।
१३. संज्ञिमार्गणा	दो	संज्ञि, असंज्ञि।
१४. आहारमार्गणा	दो	आहारक, अनाहारक।

प्रश्न :—मार्गणाओं के जो पूर्व में उत्तर भेद बताये हैं, उनमें ज्ञान-
र्गणा के मतिज्ञान आदि पांच ज्ञानों और मति-अज्ञान आदि तीन
ानों को मिलाकर कुल आठ भेद कहे हैं तथा संयममार्गणा के
ों में सामायिक आदि भेदों के साथ संयम के प्रतिपक्षी असंयम

का भी समावेश किया गया है। फिर भी उनको ज्ञानमार्गणा और संयम मार्गणा कहने का क्या कारण है ?

उत्तर—प्रत्येक मार्गणा का नामकरण मुख्य भेदों की अपेक्षा से किया गया है। मुख्य भेद प्रधान हैं और प्रतिपक्षभूत भेद गौण। जैसे किसी वन में नीम आदि के वृक्ष अल्पसंख्या में और आम्रवृक्ष अधिक संख्या में होते हैं, तो उसे आम्रवन कहते हैं। इसी प्रकार ज्ञानमार्गणा के भेदों में मति, श्रुत अवधि, मनःपर्यय और केवल ज्ञान यह पांच ज्ञान मुख्य हैं, तथा मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-ज्ञान गौण तथा संयममार्गणा के भेदों में सामायिक आदि यथाख्यात पर्यन्त प्रधान तथा संयम का प्रतिपक्षी असंयम गौण है। इसीलिए मति आदि ज्ञानों और सामायिक आदि सयमों की मुख्यता होने के से क्रमशः ज्ञानमार्गणा और संयममार्गणा यह नामकरण किया गया है।

मार्गणाओं में सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों की अपेक्षा बंध-स्वामित्व का कथन किया गया है। मार्गणाओं में सामान्यतया गुणस्थान नीचे लिखे अनुसार हैं।

गति—तिर्यंचगति में आदि के पांच, देव और नरक गति में आदि के चार तथा मनुष्यगति में पहले मिथ्यात्व से लेकर अयोगि केवली पर्यन्त सभी चौदह गुणस्थान होते हैं।

इन्द्रिय एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। पंचेन्द्रियों में सब गुणस्थान होते हैं।

काय—पृथ्वी, जल और वनस्पति काय में पहला, दूसरा ये दो गुणस्थान हैं। गतित्रस—तेजःकाय और वायुकाय में पहला गुणस्थान है। त्रसकाय में सभी गुणस्थान होते हैं।

योग—पहले से लेकर तेरहवें (सयोगि केवली) तक तेरह गुण-स्थान होते हैं।

वेद—वेदत्रिक में आदि के नौ गुणस्थान होते हैं। (उदयापेक्षा)

कषाय—क्रोध, मान, माया में आदि के नौ गुणस्थान तथा लोभ में आदि के दस गुणस्थान होते हैं। (उदयापेक्षा)

ज्ञान मति, श्रुत, अवधिज्ञान में अविरत सम्यग्दृष्टि आदि नौ गुणस्थान पाये जाते हैं। मनःपर्यय ज्ञान में प्रमत्तसंयत आदि सात गुणस्थान हैं। केवलज्ञान में सयोगि केवली और अयोगि केवली यह अंतिम दो गुणस्थान पाये जाते हैं। मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और विभंग-ज्ञान इन तीन अज्ञानों में पहले दो या तीन गुणस्थान होते हैं।

संयम—सामायिक, छेदोपस्थानीय सयम में प्रमत्त संयत आदि चार गुणस्थान, परिहारविशुद्धि संयम में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान, सूक्ष्म-संपराय में अपने नाम वाला गुणस्थान अर्थात दसवां गुणस्थान; यथाख्यात चारित्र में अंतिम चार गुणस्थान (ग्यारह से चौदह), देशविरत में अपने नाम वाला (पांचवा देशविरत) गुणस्थान है। अविरति में आदि के चार गुणस्थान पाये जाते हैं।

दर्शन - चक्षु, अचक्षुदर्शन में आदि के बारह गुणस्थान, अवधिदर्शन में चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान होते हैं। केवलदर्शन में अंतिम दो गुणस्थान पाये जाते हैं।

लेश्या—कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्याओं में आदि के छह गुणस्थान, तेज और पद्म लेश्या में आदि के सात गुणस्थान, और शुक्ल लेश्या से पहले से लेकर तेरहवें तक तेरह गुणस्थान होते हैं।

भव्य—भव्य जीवों के चौदह गुणस्थान होते हैं। अभव्य जीव को पहला मिथ्यात्व गुणस्थान है।

सम्यक्त्व—उपशम सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुणस्थान, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान तक चार गुणस्थान, क्षायिक सम्यक्त्व में चौथा आदि ग्यारह गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्व में पहला, सास्वादन में दूसरा और मिश्र दृष्टि में तीसरा गुणस्थान होता है।

संज्ञि—संज्ञी जीवों के एक से लेकर चौदह तक सभी गुणस्थान होते हैं तथा असंज्ञी जीवों में आदि के दो गुणस्थान हैं।

आहार—आहारक जीवों के पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली पर्यन्त तेरह गुणस्थान होते हैं। अनाहारक जीवों के, पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवां चौदहवां, यह पांच गुणस्थान होते हैं।

इस प्रकार मार्गणाओं के लक्षण और उनके अवान्तर भेदों की संख्या और नाम आदि वतलाने के वाद जीवों के अपने-अपने योग्य कर्म-प्रकृतियों के वन्ध करने की योग्यता का कथन करने में सहायक कुछ एक प्रकृतियों के संग्रह का संकेत आगे की दो गाथाओं में करते हैं।

जिण सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग।
एगिंदि थावराऽयव नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥२॥
अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिगं।
उज्जोयतिरि दुगं तिरि नराउ नर उर लदुगरिसहं ॥३॥

गाथार्थ—जिननाम, सुरद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय, स्थावरनाम, आतपनाम, नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, अनन्तानुवन्धी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क, अशुभविहायोगति, नीच गोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भगत्रिक, स्त्यानर्द्धित्रिक, उद्योतनाम, तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु, मनुष्यायु, मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, और वज्रऋषभनाराच संहनन यह ५५ प्रकृतियां जीवों का वंधस्वामित्व वतलाने में सहायक होने से अनुक्रम से गिनाई गई हैं।

विशेषार्थ—वंधयोग्य १२० प्रकृतियां हैं। उनमें से उक्त ५५ कर्म-प्रकृतियों का विशेष उपयोग इस कर्मग्रंथ में संकेत के लिये है। अर्थात् इन दो गाथाओं में संकेत द्वारा सक्षेप में वोध कराने के लिए ५५ प्रकृतियों का संग्रह किया गया है, जिससे आगे की गाथाओं में वंध प्रकृतियों का नामोल्लेख न करके अमुक से अमुक तक प्रकृतियों संख्या को समझ लिया जाय। जैसे कि 'सुरइगुणवीस' इस देवद्विक से लेकर आगे की १९ प्रकृतियों को ग्रहण कर लेना

गाथाओं में सग्रह की गई प्रकृतियों के नाम इस प्रकार हैं—

(१) तीर्थङ्कर नामकर्म,
(२) देवद्विक—देवगति, देवानुपूर्वी,
(३) वैक्रियद्विक—वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग,
(४) आहारकद्विक आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग,
(५) देवायु,
(६) नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु,
(७) सूक्ष्मत्रिक—सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम,
(८) विकलत्रिक—द्वीन्द्रिय जाति, त्रीन्द्रिय जाति, चतुरिन्द्रिय जाति,
(९) एकेन्द्रिय जाति,
(१०) स्थावर नाम,
(११) आतप नाम,
(१२) नपुंसक वेद,
(१३) मिथ्यात्व मोहनीय,
(१४) हुंड सस्थान,
(१५) सेवार्त संहनन,
(१६) अनन्तानुवंधी चतुष्क—अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ,
(१७) मध्यम संस्थान चतुष्क—न्यग्रोध परिमंडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान,
(१८) मध्यम संहनन चतुष्क—ऋषभनाराच, नाराच, अर्ध-नाराच, कीलिका सहनन,
(१९) अशुभ विहायोगति,
(२०) नीचगोत्र,
(२१) स्त्रीवेद,
(२२) दुर्भगत्रिक—दुर्भग नाम, दुःस्वर नाम, अनादेय नाम,
(२३) स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि,
(२४) उद्योत नाम.

(२५) तिर्यंचद्विक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी,
(२६) तिर्यंचायु,
(२७) मनुष्यायु,
(२८) मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी,
(२९) औदारिकद्विक—औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग,
(३०) वज्रऋषभनाराच संहनन ।

इस प्रकार संक्षेप में बंधयोग्य प्रकृतियों का संकेत करने के लिए प्रकृतियों का संग्रह बतलाकर आगे की चार गाथाओं में चौदह मार्गणाओं में से गतिमार्गणा के भेद नरकगति का बंध-स्वामित्व बतलाते हैं ।

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण बंधहि निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छनुइ ।।४।।

गाथार्थ—बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से सुरद्विक आदि उन्नीस प्रकृतियों के सिवाय एक सौ एक प्रकृतियाँ सामान्यरूप से नारक जीव बांधते हैं । मिथ्यात्व गुणस्थान में वर्तमान नारक तीर्थङ्कर नामकर्म के बिना सौ प्रकृतियों को और सास्वादन गुणस्थान में नपुंसक चतुष्क के सिवाय छियानवें प्रकृतियों को बाँधते हैं ।

विशेषार्थ—गाथा में सामान्य (ओघ)[1] रूप से नरकगति में तथा विशेष[2] रूप से उसके पहले मिथ्यात्व गुणस्थान और दूसरे सास्वादन गुणस्थान में बंधयोग्य प्रकृतियों का कथन किया गया है ।

---

१. ओघबंध—किसी खास गुणस्थान या खास नरक की विवक्षा किये बिना ही सब नारक जीवों का जो बंध कहा जाता है, वह उनका ओघ-बंध या सामान्यबंध कहलाता है ।

२. विशेषबंध—किसी खास गुणस्थान या किसी खास नरक को लेकर नारकों में जो बंध कहा जाता है, वह उनका विशेषबंध कहलाता है । जैसे कि मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक १०० प्रकृतियों को बांधते हैं इत्यादि । इसी प्रकार आगे अन्यान्य मार्गणाओं में भी ओघ और विशेष बंध का आशय समझ लेना चाहिए ।

नारक—नरक गति नामकर्म के उदय से जो हों अथवा नरान्= जीवों को, कायन्ति=क्लेश पहुँचायें, उनको नारक कहते हैं। अथव द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से जो स्वयं तथा परस्पर में प्रीति को प्राप्त न करते हों, उन्हें नारक कहते हैं। नारक निरन्तर ही स्वाभाविक शारीरिक-मानसिक आदि दुखों से दुखी रहते हैं।[1]

सामान्यतया सर्व संसारी जीवों की अपेक्षा १२० प्रकृतियां बंधयोग्य मानी गई हैं। उनमें से पूर्व की दो गाथाओं में कही गई ५५ प्रकृतियों के संग्रह में से देवद्विक आदि से लेकर अनुक्रम से कही गई उन्नीस प्रकृतियाँ नरकगति में बंधयोग्य ही न होने से सामान्यतः १०१ प्रकृतियों का बंध माना जाता है। अर्थात् गाथा में जो 'सुरइगुणवीसवज्जं' पद आया है उससे—(१) देवगति, (२) देव-आनुपूर्वी, (३) वैक्रियशरीर, (४) वैक्रिय अंगोपांग, (५) आहारक शरीर, (६) आहारक अंगोपांग, (७) देवायु, (८) नरकगति (९) नरक-आनुपूर्वी, (१०) नरकायु, (११) सूक्ष्म नाम, (१२) अपर्याप्त नाम, (१३) साधारण नाम, (१४) द्वीन्द्रिय जाति, (१५) त्रीन्द्रिय जाति, (१६) चतुरिन्द्रिय जाति, (१७) एकेन्द्रिय जाति, (१८) स्थावर नाम तथा (१९) आतप नाम—इन उन्नीस प्रकृतियों का नारक जीवों के भव स्वभाव के कारण बंध ही नहीं होता है अतः बंध योग्य १२० प्रकृतियों से इन १९ प्रकृतियों को कम करने पर १०१ प्रकृतियों को सामान्य से नरकगति में बंधयोग्य मानना चाहिए।

क्योंकि जिन स्थानों में उक्त उन्नीस प्रकृतियों का उदय होता है, नारक जीव नरकगति में से निकल कर उन स्थानों में उत्पन्न नहीं

---

१. क—ण रमंति जदो णिच्चं दव्वे खेत्ते य काल भावे य।
अण्णोण्णेहि जम्हा तम्हा ते णारया भणिया॥

—गो० जीवकाण्ड १४६

ख—नित्याशुभतरलेश्यापरिणामदेहवेदनाविक्रियाः।

—तत्त्वार्थसूत्र ३।३

होते हैं। अर्थात् उक्त १९ प्रकृतियों में से देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु—ये आठ प्रकृतियाँ देव और नारकीय प्रायोग्य है और नारकीय मर कर नरक अथवा देव गति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः उन आठ प्रकृतियों का नरकगति में बंध नहीं होता है।

सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम और साधारण नाम इन तीन प्रकृतियों का भी बंध नारक जीवों के नहीं होता है। क्योंकि सूक्ष्म नामकर्म का उदय सूक्ष्म एकेन्द्रिय के, अपर्याप्त नामकर्म का उदय अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के तथा साधारण नामकर्म का उदय साधारण वनस्पति के होता है।

इसी प्रकार एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम ये तीन प्रकृतियाँ एकेन्द्रिय प्रायोग्य हैं तथा विकलेन्द्रियत्रिक विकलेन्द्रिय प्रायोग्य हैं। अतः इन छः प्रकृतियों को नारक जीव नहीं बाँधते हैं तथा आहारकद्विक का उदय चारित्रसंपन्न लब्धिधारी मुनियों को ही होता है, अन्य को नहीं। इसलिए देवद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियाँ अबन्ध होने से नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।

यद्यपि नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं, लेकिन नारकों में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होने से १०० प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि तीर्थङ्कर नामकर्म के बंध का अधिकारी सम्यक्त्वी है, अर्थात् सम्यक्त्व के होने पर ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध हो सकता है। लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में सम्यक्त्व नहीं है, अतः मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीव के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होता है। इसीलिए मिथ्यात्व गुणस्थान में नारक जीवों के १०० प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं।

दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीव नपुंसकवेद, मिथ्यात्व

मोहनीय, हुंडसस्थान और सेवार्त संहनन—इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। क्योंकि इन चार प्रकृतियां का बध मिथ्यात्व के उदयकाल में होता है। लेकिन सास्वादन के समय मिथ्यात्व का उदय नहीं होता है। अर्थात् नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क हुंडसंस्थान, आतप नाम, सेवार्त संहनन, नपुंसक वेद और मिथ्यात्व मोहनीय--इन सोलह प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व निमित्तक है। इनमें से नरकत्रिक, सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति स्थावर नाम और आतप नाम – इन बारह प्रकृतियों को नारक जीव भव स्वभाव के कारण बाँधते ही नहीं हैं। अतः देवद्विक आदि में ग्रहण करके इन बारह प्रकृतियों को सामान्य बंध के समय ही कम कर दिया गया और शेष रही नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंडसंस्थान और सेवार्त संहनन—ये प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के निमित्त से बंधती हैं और सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है अतः सास्वादन गुणस्थान में इन चार प्रकृतियों को मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवों की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों में से कम करने पर दूसरे सास्वादन गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के ९६ प्रकृतियाँ बंधयोग्य कही हैं।

सारांश यह है कि बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से नरकगति में सामान्य बंध की अपेक्षा सुरद्विक आदि आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियों के बंधयोग्य न होने से १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।

नरकगति में मिथ्यात्वादि पहले से चौथे तक चार गुणस्थान होते हैं। अतः नरकगति में बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व निमित्तक होने से मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध नहीं होने से १०० प्रकृतियों का तथा नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियों का बंध मिथ्यात्व के उदय होने पर होता है और सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं होने से मिथ्यात्व गुणस्थान की बंधयोग्य १०० प्रकृतियों में से नपुंसक वेद आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९६ प्रकृतियों का बंध होता है।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से तथा पहले और दूसरे गुण-स्थान में नारक जीवों के कर्म प्रकृतियों के बंधस्वामित्व का वर्णन करने के बाद अब आगे की गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थान तथा रत्नप्रभा आदि भूमियों के नारकों के बंधस्वामित्व को कहते हैं—

विणु अणछवीस मीसे बिसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुया ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

गाथार्थ—अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि छब्बीस प्रकृतियों के बिना मिश्रगुणस्थान में सत्तर तथा इनमें तीर्थङ्कर नाम और मनुष्यायु को जोड़ने पर सम्यक्त्व गुणस्थान में बहत्तर प्रकृतियों का बंध होता है। इसीप्रकार नरकगति की यह सामान्य बंधविधि रत्नप्रभादि तीन नरकभूमियों के नारकों के चारों गुणस्थान में भी समझना चाहिए तथा पंकप्रभा आदि नरकों में तीर्थङ्कर नामकर्म के बिना शेष सामान्य बंधविधि पूर्ववत समझना चाहिए।

विशेषार्थ – नरकगति में पहले और दूसरे गुणस्थान में बंधस्वा-मित्व कहने के बाद इस गाथा में तीसरे और चौथे गुणस्थान और रत्नप्रभा आदि छह नरक भूमियों के नारकियों के प्रकृतियों के बंध को बतलाते हैं।

मिश्र गुणस्थानवर्ती नारकों के ७० कर्म प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से बंधने वाली अनन्तानु-बंधी चतुष्क, मध्यम संस्थान चतुष्क, मध्यम संहनन चतुष्क, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्रीवेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, स्त्यानर्द्धि-त्रिक, उद्योत और तिर्यंचत्रिक,—इन २५ प्रकृतियों का मिश्र गुण-स्थान में अनन्तानुबंधी का उदय न होने से बंध नहीं होता है। अर्थात् अनन्तानुबंधी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, तीसरे आदि गुणस्थानों में नहीं। दूसरे गुणस्थान के अन्तिम समय में अनन्तानुबंधी कषाय का क्षय हो जाता है, इस-

लिए अनन्तानुबंधी के कारण बँधने वाली उक्त २५ प्रकृतियों का बंध तीसरे मिश्र गुणस्थान में नहीं होता है तथा मिश्र गुणस्थान में रहने वाला कोई भी जीव आयुकर्म का बंध नहीं करता है।[1] अतः मनुष्यायु का भी बंध नहीं हो सकता है।

अतः दूसरे गुणस्थानवर्ती नारक जीवों के बँधने वाली ९६ प्रकृतियों में से अनन्तानुबँधी कषाय चतुष्क आदि पूर्वोक्त २५ प्रकृतियां तथा मनुष्यायु, कुल मिलाकर २६ प्रकृतियों को कम करने से मिश्र गुणस्थानवर्ती नरकगति के जीवों को ७० प्रकृतियों का बंधस्वामित्व मानना चाहिए।

लेकिन चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती नारक जीव सम्यक्त्व के होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध कर सकते हैं क्योंकि सम्यक्त्व के सद्भाव में ही तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध होता है[2] तथा मिश्र गुणस्थानवर्ती जीव के आयुकर्म के बंध न होने के नियम से जिस मनुष्यायु का बंध नहीं होता था, उसका चौथे गुणस्थान में बंध होने से मिश्र गुणस्थान में बंध होने वाली ७० प्रकृतियों में तीर्थंकर नाम और मनुष्यायु—इन दो प्रकृतियों को मिलाने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव ७२ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

नरकगति में चौथे गुणस्थानवर्ती नारकों के मनुष्यायु के बंध होने का कारण यह है कि नारक जीव पुनः नरकगति की आयु का बन्ध नहीं कर सकते और न देवायु का ही बन्ध कर सकते हैं। अतः यह दो आयुकर्म की प्रकृतियाँ नरकगति में अबन्ध हैं। इनका संकेत गाथा चार में 'सुरइगुणवीसवज्जं' पद से पहले किया जा चुका है। तिर्यंचायु का बंध अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय होने पर होता और अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे गुणस्थान

---

१. (क) सम्मामिच्छद्दिट्ठी आउयबंधं पि न करेइ त्ति।
(ख) मिस्सूणे आउस्स·······। —गो० कर्मकाण्ड ९२

२. सम्मेव तित्थबंधो। —गो० कर्मकांड ९२

तक होता है, आगे के गुणस्थानों में नहीं। अत: चौथे गुणस्थान में नारक जीवों के तिर्यंचायु का वन्ध नहीं हो सकता। इस प्रकार नरक, देव और तिर्यंचायु के वन्ध नहीं होने से सिर्फ मनुष्यायु शेष रहती है तथा तीसरे मिश्रगुणस्थान में परभव सम्वन्धो आयु का वन्ध न होने का सिद्धान्त होने से चौथे गुणस्थानवर्ती नारक जीव मनुष्यायु का वन्ध कर सकते हैं।

इस प्रकार नरकगति में गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद नरक भूमियों में रहने वाले नारकों की अपेक्षा वंध-स्वामित्व वतलाते हैं।

रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा, पंकप्रभा, धूमप्रभा, तम:प्रभा और महातम:प्रभा—ये सात नरक भूमियाँ हैं। ये भूमियाँ घनाम्वु, वात और आकाश पर स्थित हैं, एक दूसरे के नीचे हैं और नीचे की ओर अधिक विस्तीर्ण हैं।[1]

इन सात नरकों में रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा इन नरकों में सामान्य व चारों गुणस्थान की अपेक्षा कहे गये नारक जीवों के वंधस्वामित्व के समान ही वन्धस्वामित्व मानना चाहिए। अर्थात् जैसे नरकगति में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का वन्ध माना गया है, उसी प्रकार रत्न-प्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा—इन नरकों में रहने वाले नारक जीवों के अपने-अपने योग्य गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों का वन्धस्वा-मित्व समझना चाहिए।

गाथा में आये हुए 'रयणाइसु' इस वहुवचनात्मक पद से यद्यपि रत्नप्रभा आदि सातों नरकों का ग्रहण होना चाहिए था, किन्तु यहाँ रत्नप्रभा आदि पहले, दूसरे और तीसरे नरक के ग्रहण करने का कारण

---

१. रत्नशर्करावालुकापंकधूमतमोमहातम:प्रभा भूमियो न २ प्रतिष्ठा: सप्ताधोऽध: पृथुतरा:।

यह है कि इसी गाथा में 'पंकाइसु' पद दिया है, जिसका अर्थ है कि पंकप्रभा आदि नरकों में वन्धस्वामित्व का कथन अलग से किया जायगा। इसी कारण पंकप्रभा नामक चौथे नरक से पहले के रत्न-प्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा इन तीन नरकों का यहाँ ग्रहण किया गया है तथा 'पंकाइसु' पद से पकप्रभा आदि शेष नरकों का ग्रहण करना चाहिए लेकिन 'पंकाइसु' इस पद से पंकप्रभा, धूमप्रभा और तम-प्रभा इन तीन नरकों का ग्रहण किया गया है, क्योंकि आगे की गाथा में महातम:प्रभा नामक सातवें नरक का वधस्वा-मित्व अलग से कहा है। इस गाथा में तो तीर्थंकर नामकर्म का वंधस्वामित्व पंकप्रभा आदि महातम:प्रभा पर्यन्त के नारक जीवों के होता ही नहीं है, इस वात को वताने के लिए 'पंकाइसु' पद दिया है।

पंकप्रभा आदि चार, पाँच और छह—इन तीन नरकों में तीर्थ-ङ्कर नामकर्म का वन्ध नहीं होता है।

पंकप्रभा आदि में तीर्थङ्कर नामकर्म के वन्धस्वामित्व न होने का कारण यह है कि पंकप्रभा, धूमप्रभा और तम:प्रभा नरकों में सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से और तथाप्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध नहीं होता है। क्योंकि शास्त्र में कहा गया है कि पहले नरक से आया जीव चक्रवर्ती हो सकता है। दूसरे नरक तक से आया जीव वासु-देव हो सकता है और तीसरे नरक तक से आया जीव तीर्थङ्कर हो सकता है। चौथे नरक तक से आया जीव केवली और पाँचवें नरक तक से आया जीव साधु एवं छठे नरक तक से आया जीव देशविरत हो सकता है और सातवें नरक तक से आये जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर सकते हैं, परन्तु देशविरतित्व प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अत: पंकप्रभा आदि से आया नारक जीव तीर्थङ्करत्व को प्राप्त नहीं करता है। इसलिए तीर्थङ्कर नामकर्म पंकप्रभा आदि तीन नरकों में अवन्ध्य होने से १०० प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

पंकप्रभा आदि इन तीन नरकों में सामान्य और विशेष रूप में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे और तीसरे गुणस्थान में रत्नप्रभा आदि तीन नरकों के समान क्रमशः ९६ और ७० प्रकृतियों और चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व प्राप्ति होने पर भी क्षेत्र के प्रभाव से तथा-प्रकार के अध्यवसाय का अभाव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध न होने से ७१ प्रकृतियों का बंध हो सकता है।

सारांश यह है कि नरकगति में तीसरे गुणस्थान में ७० और चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये बन्धस्वामित्व के समान रत्नप्रभा आदि तीन नरकों में भी समझना चाहिए। लेकिन पंकप्रभा आदि तीन नरकों में तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध न होने से सामान्य और विशेष रूप में पहले गुणस्थान में १००, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इस प्रकार से नरकगति में पहले से लेकर छठे नरक तक के जीवों के बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद अब आगे की दो गाथाओं में सातवें नरक तथा तिर्यंच गति में पर्याप्त तिर्यंचों के बन्ध-स्वामित्व को कहते हैं —

अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे।
इगनवई सासणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥
अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे।
सतरसउ ओहि मिच्छे पज्जतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

गाथार्थ—सातवें नरक में सामान्य रूप से तीर्थङ्कर नामकर्म और मनुष्यायु का बंध नहीं होता है तथा मनुष्यद्विक और उच्च-गोत्र के बिना शेष प्रकृतियों का मिथ्यात्व गुणस्थान में बन्ध होता है। सास्वादन गुणस्थान में तिर्यंचायु और नपुंसक चतुष्क के बिना ९१ प्रकृतियों का बंध होता है तथा इन ९१ प्रक

में से अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि २४ प्रकृतियों को कम करके और मनुष्यद्विक एवं उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से मिश्रद्विक गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का बंध होता है ।

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक के विना सामान्य रूप से तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों को वांधते हैं ।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में सातवें नरक के नारकों में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा से एवं तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंचों के बंधस्वामित्व का कथन किया गया है ।

नरकगति में सामान्य से १०१ प्रकृतियाँ वंधयोग्य हैं। उनमें से क्षेत्रगत प्रभाव के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म के वन्धयोग्य तथाप्रकार के अध्यवसायों का अभाव होने से सातवें नरक के नारक तीर्थंकर नामकर्म का बंध नहीं करते हैं तथा मनुष्यायु का छठे नरक तक ही वंध हो सकता है[1] और सातवें नरक की अपेक्षा मनुष्यायु उत्कृष्ट पुण्य प्रकृति है । अतः इसका वन्ध उत्कृष्ट अध्यवसायों के होने पर हो सकता है । इसलिए सातवें नरक के नारकों को मनुष्यायु का वंध नहीं होता है ।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य से वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से तीर्थंकर नामकर्म और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियों को कम करने से सातवें नरक में ९९ प्रकृतियों का वन्ध माना जाता है ।

सातवें नरक में जो ९९ प्रकृतियां बांधने योग्य बतलाई हैं, उनमें से उसी नरक के पहले मिथ्यात्व गुणस्थानवर्ती नारक मनुष्यद्विक—मनुष्यगति और मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियों को तथाविध विशुद्धि के अभाव में नहीं बाँधते हैं। क्योंकि सातवें नरक

---

१ छट्ठोत्ति य मणुआउ । —गो० कर्मकाण्ड १०६

के नारक को ये तीन प्रकृतियां उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियां हैं, जो उत्कृष्ट विशुद्ध अध्यवसाय से बाँधी जाती हैं और उत्कृष्ट अध्यवसाय स्थान सातवें नरक में तीसरे और चौथे गुणस्थान में होते हैं।[1] इसलिए मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्च गोत्र—इन तीन प्रकृतियों के अवन्ध्य होने से सामान्य से बंधयोग्य ९९ प्रकृतियों से इन तीन प्रकृतियों को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में सातवें नरक के नारकों के ९६ प्रकृतियों का बंध होना माना जाता है।

सातवें नरक के नारकों के दूसरे सास्वादन गुणस्थान में तिर्यंचायु और नपुंसक चतुष्क—नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान और सेवार्तसंहनन—कुल पाँच प्रकृतियाँ अवन्ध्य होने से मिथ्यात्व गुणस्थान में जो ९६ प्रकृतियों का बंध कहा गया, उनमें इन प्रकृतियों को कम करने पर ९१ प्रकृतियों का वन्ध होता है। क्योंकि इस गुणस्थान में योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से तिर्यंचायु का वन्ध नहीं होता है और नपुंसक चतुष्क मिथ्यात्व के उदय में होता है, किन्तु सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय नहीं है। अतः नपुंसक चतुष्क का वन्ध नहीं होता है। इसलिये ९६ प्रकृतियों में से इन पाँच प्रकृतियों को कम करने से सास्वादन गुणस्थानवर्ती सातवें नरक के नारकों को ९१ प्रकृतियों का बंध होता है।

सातवें नरकवर्ती सास्वादन गुणस्थान वाले नारकों को जो ९१ प्रकृतियों का बंध कहा गया है, उनमें से अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि तिर्यचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को, अर्थात् अनन्तानुवन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, न्यग्रोध परिमडल, सादि, वामन, कुब्ज संस्थान, ऋषभनाराच, नाराच, अर्धनाराच, कीलिका संहनन, अशुभ विहायोगति, नीचगोत्र, स्त्री वेद, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, निद्रानिद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि, उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी—इन

---

१ मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे वंधो।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण वंधंति ॥

—गो० कर्मकांड १०७

२४ प्रकृतियों का वन्ध अनन्तानुवन्धी कषाय के उदय से होता है और अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः पूर्वोक्त ६१ प्रकृतियों में से इन २४ प्रकृतियों को कम करने पर ६७ प्रकृतियाँ रहती हैं। इनमें मनुष्यद्विक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी तथा उच्चगोत्र इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे मिश्र गुणस्थान और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानवर्ती सातवें नरक के नारकों के ७० प्रकृतियों का वन्ध होता है।

पूर्व-पूर्व नरक से उत्तर-उत्तर नरक में अध्यवसायों की शुद्धि इतनी कम हो जाती है कि पुण्यप्रकृतियों के बंधक परिणाम पूर्व-पूर्व से उत्तर उत्तर नरक में अल्प से अल्पतर होते जाते हैं। यद्यपि आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक जीव प्रति समय किसी न किसी गति का वंध कर सकता है। किन्तु नरकगति के योग्य अध्यवसाय पहले गुणस्थान तक, तिर्यंचगति के योग्य आदि के दो गुणस्थान तक, देवगति के योग्य आठवें गुणस्थान के छठे भाग तक और मनुष्यगति के योग्य चौथे गुणस्थान तक होते हैं। नारक जीव नरक और देवगति का वंध नहीं कर सकते हैं। अतः तीसरे और चौथे गुणस्थान में सातवें नरक के नारक मनुष्यगति योग्य वंध कर सकते हैं। सातवें नरक के जीव आयुष्य का वंध पहले गुणस्थान में ही करते हैं। अन्य गुणस्थानों से तद्योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से वंध नहीं करते हैं। पहले और दूसरे गुणस्थान में सातवें नरक के ज़ीव के मनुष्यगति-प्रायोग्य वंध के लायक परिणाम नही होने से मनुष्य-प्रायोग्य वंध नहीं होता है।

मनुष्यद्विक और उच्चगोत्र रूप जिन पुण्य प्रकृतियों के वंधक परिणाम पहले नरक के मिथ्यात्वी नारकों को हो सकते हैं, उनके वंधयोग्य परिणाम सातवें नरक में तीसरे, चौथे गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थान में असंभव हैं। सातवें नरक में उत्कृष्ट विशुद्ध परिणाम वे ही हैं, जिनसे उक्त तीन प्रकृतियों का वंध किया जा

सकता है। अतएव सातवें नरक में सबसे उत्कृष्ट पुण्य प्रकृतियाँ उक्त तीन ही हैं।

यद्यपि मनुष्यद्विक भवान्तर में उदय आता है, किन्तु सातवें नरक के जीव मनुष्यायु को बाँधते नहीं हैं, तथापि उसके अभाव में तीसरे-चौथे गुणस्थान में मनुष्यद्विक का बंध करते हैं, इसका अर्थ यह है कि मनुष्यद्विक का मनुष्यायु के साथ प्रतिबंध नहीं है, यानी आयु का बंध गति और आनुपूर्वी नामकर्म के बंध के साथ ही होना चाहिए, ऐसा नियम नहीं है।[1] मनुष्य आयु के सिवाय भी तीसरे और चौथे गुणस्थान में मनुष्यद्विक का बंध हो सकता है और वह भवान्तर में उदय आता है।

इस प्रकार नरकगति के बंधस्वामित्व का कथन करने के बाद अब तिर्यंचगति का बंधस्वामित्व बतलाते हैं।

जिनको तिर्यंचगति नामकर्म का उदय हो उनको तिर्यंच कहते हैं।

तिर्यंचों के दो भेद हैं—पर्याप्त तिर्यंच और अपर्याप्त तिर्यंच। इन दोनों में से यहाँ पर्याप्त तिर्यंचों का बंधस्वामित्व बतलाते हैं।

समस्त जीवों की अपेक्षा सामान्य से बंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का बंध तिर्यंचगति में नहीं होता है। अतः सामान्य से पर्याप्त तिर्यंचों के ११७ प्रकृतियों का बंध होता है। क्योंकि तिर्यंचों के सम्यक्त्वी होने पर भी जन्म स्वभाव से ही तीर्थङ्कर नामकर्म के बंधयोग्य अध्यवसायों का अभाव होता है और आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग का बंध चारित्र धारण करने वालों को ही होता है। परन्तु तिर्यंच चारित्र के अधिकारी नहीं हैं।

---

१ नरद्विकस्य नरायुषा सह नावश्यं प्रतिबन्धो यदुत यत्रैवायुर्बध्यते तत्रैव गत्यानुपूर्वीद्वयमपि, तस्याऽन्यदाऽपि बन्धात्।

—तृतीय कर्मग्रन्थ अवचूरिका पृ० १०१

अतएव तिर्यंचगति वालों के सामान्य बंध में उक्त तीन प्रकृतियों की गिनती नहीं की गई है और इसीलिए तिर्यंचगति में सामान्य से ११७ प्रकृतियों का वध माना जाता है।

तिर्यंचगति में पहले मिथ्यात्व से लेकर पाँचवें देशविरत गुण-स्थान तक पाँच गुणस्थान होते हैं। ये पाँचों गुणस्थान पर्याप्त तिर्यंच को होते हैं और अपर्याप्त तिर्यंच को सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है।

पर्याप्त तिर्यंचों के जो सामान्य से ११७ प्रकृतियों का वंध-स्वामित्व बतलाया गया है, उसी प्रकार पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में भी उनके ११७ प्रकृतियों का बंध समझना चाहिए। क्योंकि पहले बता चुके हैं कि तीर्थङ्कर नामकर्म का बंध सम्यक्त्व के होने पर होता है और आहारकद्विक का बंध चारित्र धारण करने वालों के होता है। किन्तु मिथ्यात्व गुणस्थान में न तो सम्यक्त्व है और न चारित्र है। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंच ११७ प्रकृतियों का वंध करते हैं।

सारांश यह है कि सातवें नरक के नारक दूसरे गुणस्थान में जो ९१ प्रकृतियों का बंध करते हैं, उनमें से अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि तिर्यचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को कम कर देने से शेष रही ६७ प्रकृतियाँ तथा इन ६७ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक और उच्च गोत्र, इन तीन प्रकृतियों को मिलाने से तीसरे मिश्र और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—इन दो गुणस्थानों में ७० प्रकृतियों का बंध करते हैं।

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से तथा-योग्य अध्यवसायों का अभाव होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहा-रकद्विक का वन्ध नहीं कर सकते हैं। अतः सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।

इस प्रकार नरकगति में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा और

तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंच के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का कथन करने के बाद आगे की गाथा में पर्याप्त तिर्यंच के दूसरे से पाँचवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं—

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।
ससुराउ सयरि सम्मे बीयकसाए विणा देसे ॥८॥

गाथार्थ—सास्वादन गुणस्थान में नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों के बिना तथा मिश्र गुणस्थान में देवायु और अनन्तानुबंधी चतुष्क आदि इकतीस के बिना और सम्यक्त्व गुणस्थान में देवायु सहित सत्तर तथा देशविरत गुणस्थान में दूसरे कषाय के बिना पर्याप्त तिर्यंच प्रकृतियों का बन्ध करते हैं।

विशेषार्थ—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंचों के बन्धस्वामित्व को बतलाने के बाद यहाँ दूसरे से लेकर पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त कर्मबन्ध को बतलाते हैं।

पर्याप्त तिर्यंचों के सामान्य से तथा पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का बन्ध होता है, उनमें से मिथ्यात्व के उदय से बधने वाली जो प्रकृतियाँ हैं,उनका सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, जातिचतुष्क—एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति, स्थावरचतुष्क—स्थावर नाम, सूक्ष्म नाम, अपर्याप्त नाम, साधारण नाम, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, आतप नाम, नपुंसक वेद, और मिथ्यात्व मोहनीय इन सोलह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से १०१ प्रकृतियों का बंध होता है।[1]

---

१. नरयतिग जाइथावरचउ हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं।
सोलतो इगहिय सयं सासणि ....॥

—कर्मग्रन्थ २

पर्याप्त तिर्यंचों के दूसरे गुणस्थान में जो १०१ प्रकृतियों का बंध बतलाया है उनमें से पर्याप्त तिर्यंच मिश्र गुणस्थान में तद्‌योग्य अध्यवसाय का अभाव होने से तथा मिश्र गुणस्थान में आयु बंध न होने के कारण देवायु तथा अनन्तानुबन्धी कषाय का उदय दूसरे गुणस्थान तक ही होता है, अतः उसके निमित्त से बंधने वाली तिर्यंचत्रिक—तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यचायु, स्त्यानर्द्धित्रिक—निद्रा-निद्रा, प्रचला-प्रचला, स्त्यानर्द्धि; दुर्भगत्रिक—दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय नाम, अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क—अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, मध्यमसंस्थान चतुष्क—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान, सादि संस्थान, वामन संस्थान, कुब्ज संस्थान, मध्यम संहनन चतुष्क—ऋषभनाराच संहनन, नाराच संहनन, अर्धनाराच संहनन, कीलिका संहनन, नीचगोत्र, उद्योत नाम, अशुभ विहायोगति और स्त्रीवेद इन पच्चीस प्रकृतियों का भी बंध नहीं करते हैं[1] तथा मनुष्यत्रिक—मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, औदारिकद्विक - औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग और वज्रऋषभनाराच संहनन—इन छह प्रकृतियों के मनुष्य गति योग्य होने से वे नहीं बाँधते हैं। क्योंकि चौथे गुणस्थान की तरह तीसरे गुणस्थान के समय पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच दोनों ही देवगति योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं, मनुष्यगति प्रायोग्य प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं।

इस प्रकार तीसरे मिश्र गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यंचों के देवायु, अनन्तानुबन्धी कषाय निमित्तक पच्चीस प्रकृतियों तथा मनुष्यगति प्रायोग्य छह प्रकृतियों का बंध नहीं होने से कुल मिलाकर ३२ प्रकृतियों को दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से घटा देने पर शेष ६९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

---

१ ………………………………… तिरिथीणदुहगतिगं ॥
अणमज्झागिइसंघयणचउ निउज्जोय कुखगइत्थि त्ति।

—कर्मग्रन्थ २।४,५

पर्याप्त तिर्यंचों के चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मिश्र [ग]ुणस्थान की वन्धयोग्य ६९ प्रकृतियों के साथ देवायु के वन्ध का भी [स]ंभव होने से ७० प्रकृतियों का वन्ध माना जाता है। क्योंकि तीसरे [ग]ुणस्थान में आयु के वन्ध का नियम न होने से आयुकर्म का बंध [न]हीं होता है, किन्तु चौथे गुणस्थान में परभव सम्वन्धी आयु का [ब]ंध संभव है। परन्तु चौथे गुणस्थानवर्ती पर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य दोनों देवगति योग्य प्रकृतियों को बाँधते हैं, मनुष्यगति योग्य प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। अतः चौथे गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंचों के देवायु का बंध माना जा सकता है।

इस प्रकार तीसरे गुणस्थान की वधयोग्य ६९ प्रकृतियों में देवायु प्रकृति को मिलाने से पर्याप्त तिर्यंचों के चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का वन्ध होता है।

पर्याप्त तिर्यंचों के पाँचवें देशविरत गुणस्थान में पूर्वोक्त ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क—क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार प्रकृतियों को कम कर देने पर ६६ प्रकृतियों का बंध होता है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वन्ध पाँचवें और उसके आगे के गुणस्थानों में नहीं होता है। क्योंकि यथायोग्य कषाय का उदय तथायोग्य कषाय के वन्ध का कारण है। किन्तु पाँचवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का उदय नहीं होता है, अतः उनका यहाँ वन्ध भी नहीं हो सकता है। इनका उदय पहले से लेकर चौथे गुणस्थान तक होता है, अतः वहाँ तक ही वन्ध होता है। इसलिए अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क का वन्ध नहीं होने से पर्याप्त तिर्यंचों के ६६ प्रकृतियों का बंध पांचवें गुणस्थान में माना जाता है।

सारांश यह है कि पर्याप्त तिर्यंचों के पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में वन्ध योग्य ११७ प्रकृतियों में से मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली नरकत्रिक आदि सोलह प्रकृतियों को कम करने से दूसरे सास्वादन गुणस्थान में १०१ प्रकृतियों का तथा देवायु और अन

कषाय निमित्तक २५ प्रकृतियों और मनुष्यगति योग्य छह प्रकृतियों कुल ३२ प्रकृतियों का वन्ध न होने से दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य १०१ प्रकृतियों में से उन ३२ प्रकृतियों को कम करने से मिश्रगुणस्थान में ६९ प्रकृतियों का तथा मिश्र गुणस्थान की उक्त ६९ प्रकृतियों में देवायु का वन्ध होना संभव होने से चौथे गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का-तथा इन ७० प्रकृतियों में से अप्रत्याख्यानावरण कषाय चतुष्क के कम करने से पाँचवें देशविरत गुणस्थान में ६६ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

इस प्रकार से तिर्यंचगति में पर्याप्त तिर्यंचों के वन्धस्वामित्व का वर्णन करने के वाद आगे की गाथा में मनुष्यगति के पर्याप्त और अपर्याप्त मनुष्यों और अपर्याप्त तिर्यंचों के वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं—

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥९॥

गाथार्थ—पर्याप्त मनुष्य पहले से चौथे गुणस्थान तक पर्याप्त तिर्यंच के समान प्रकृतियों को वाँधते हैं। परन्तु इतना विशेष समझना कि सम्यग्दृष्टि पर्याप्त मनुष्य तीर्थङ्कर नामकर्म का वन्ध कर सकते हैं, किन्तु पर्याप्त तिर्यंच नहीं तथा पाँचवें गुणस्थान से लेकर आगे के गुणस्थानों में सामान्य से कर्मस्तव (द्वितीय कर्मग्रंथ) में कहे गये अनुसार कर्म प्रकृतियों को वांधते हैं। अपर्याप्त तिर्यंच और मनुष्य तीर्थङ्कर नामकर्म आदि ग्यारह प्रकृतियों को छोड़कर शेष १०९ प्रकृतियों का वंध करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में पर्याप्त मनुष्य और अपर्याप्त तिर्यंच तथा मनुष्यों के वंधस्वामित्व को वतलाया है।

मनुष्यगति नामकर्म और मनुष्यायु के उदय से जो मनुष्य कहलाते हैं अथवा जो मन के द्वारा नित्य ही हेय-उपादेय, तत्त्व-

उक्त ११७ प्रकृतियों में से दूसरे गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रंथ में बताई गई 'नरयतिगजाइथावरचउ हुंडायव छिवट्ठ नपुमिच्छं' (गाथा ४) इन १६ प्रकृतियों का अन्त पहले गुणस्थान के अन्तिम समय में हो जाने से पर्याप्त मनुष्य १०१ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

तीसरे मिश्र गुणस्थान में पर्याप्त मनुष्य पर्याप्त तिर्यंच के लिये बताये गये बंधस्वामित्व के अनुसार दूसरे गुणस्थान की १०१ प्रकृतियों में से देवायु तथा अनन्तानुबंधी कषाय के उदय से बँधने वाली २५ प्रकृतियों तथा मनुष्यगति योग्य छह प्रकृतियों[1], कुल ३२ प्रकृतियों को कम करने से ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

यद्यपि पर्याप्त तिर्यंच चौथे गुणस्थान में तीसरे गुणस्थान की बंधयोग्य ६९ प्रकृतियों के साथ देवायु का बंध करने के कारण ७० प्रकृतियों का बंध करते हैं। किन्तु पर्याप्त मनुष्य के उक्त ७० प्रकृतियों के साथ तीर्थङ्कर नामकर्म का भी बंध हो सकने से ७१ प्रकृतियों का बंध करते है। क्योंकि पर्याप्त तिर्यंचों को चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व तो होता है, किन्तु तीर्थंकर नामकर्म के बंधयोग्य अध्यवसायों का अभाव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं कर पाते हैं।

कर्मग्रन्थ भाग २ (कर्मस्तव) में कहे गये बन्धाधिकार की अपेक्षा पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच के तीसरे-मिश्र और चौथे-अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इस प्रकार की विशेषता है—कर्मस्तव में तीसरे मिश्र गुणस्थान में ७४ और चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध कहा गया है। परन्तु यहाँ तिर्यंच मिश्रगुणस्थान में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभ नाराच संहनन इन पाँच प्रकृतियों का अबन्ध होने से ६९ प्रकृतियों को बाँधते हैं और

---

१. 'सुराउ अण एगतीस विणु मीसे।' (तृतीय कर्मग्रन्थ गा० ८) इन ३२ प्रकृतियों के नाम पृष्ठ २८ पर दिये गये हैं।

अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में देवायु सहित ७० प्रकृतियों को एवं मनुष्य मिश्र गुणस्थान में ६९ और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और देवायु सहित ७१ प्रकृतियों को बाँधते हैं। चौथे गुणस्थान की इन ७१ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक, वज्रऋषभनाराच संहनन और मनुष्यायु इन छह प्रकृतियों को मिलाने से कर्मस्तव बन्धाधिकार में सामान्य से कही गई ७७ प्रकृतियों का तथा यहाँ पर्याप्त मनुष्य और तिर्यंचों को तीसरे गुण-स्थान में जो ६९ प्रकृतियों का बंध कहा गया है, उनमें पहले कही गई मनुष्यद्विक आदि छह प्रकृतियों में से मनुष्यायु के सिवाय शेष पाँच प्रकृतियों को मिलाने से ७४ प्रकृतियों का बन्ध माना जा सकता है।

पर्याप्त मनुष्य के पहले से चौथे गुणस्थान तक का बंधस्वा-मित्व को पूर्वोक्त प्रकार से समझना चाहिए और पाँचवें से लेकर तेरहवें गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ के बन्धाधिकार में कही गई बन्धयोग्य प्रकृतियों के अनुसार उतनी-उतनी प्रकृतियों का बन्ध समझ लेना चाहिए। जैसे कि पाँचवें गुण-स्थान में ६७, छठे गुणस्थान में ६३, सातवें में ५८ या ५९ इत्यादि। विशेष जानकारी के लिए दूसरे कर्मग्रन्थ का बन्धाधिकार देख लें।

अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क को कम करने से ६७ प्रकृतियों के बन्ध होने का कथन किया जाता है।

पर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के वन्धस्वामित्व का कथन करने के वाद अव अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के सामान्य तथा विशेष दोनों प्रकार से वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं।

अपर्याप्त तिर्यंच और अपर्याप्त मनुष्य—इनमें अपर्याप्त शब्द का मतलव लब्धि[1]—अपर्याप्त समझना चाहिए, करण-अपर्याप्त नहीं। क्योंकि अपर्याप्त शब्द का उक्त अर्थ करने का कारण यह है कि अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म को भी वाँध सकता है।

इन लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के सामान्य से तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक—इन ग्यारह प्रकृतियों को वंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने पर १०९ प्रकृतियों का वन्ध होता है तथा अपर्याप्त अवस्था में सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होने से इस गुणस्थान में भी १०९ प्रकृतियों का वंध कर सकते हैं। क्योंकि मिथ्यादृष्टि होने से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक का वंध नहीं करते हैं तथा मरकर देवगति में जाते नहीं, अतः देवद्विक, वैक्रियद्विक और देवायु का भी वंध नही करते हैं। अपर्याप्त जीव नरकगति में उत्पन्न नहीं होते, अतः नरकत्रिक का भी वंध नहीं करते हैं। इसलिए उक्त ग्यारह प्रकृतियों को कम करने से सामान्य की अपेक्षा और मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों और मनुष्यों के १०९ प्रकृतियों का वंध माना जाता है।

सारांश यह है कि मनुष्यगति में पर्याप्त मनुष्यों के चौदह गुणस्थान होते हैं और सामान्य से १२० प्रकृतियों का वंध हो सकता है। लेकिन जब सिर्फ मनुष्यगति की अपेक्षा वंधस्वामित्व का

---

१. ज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमविशेष को लब्धि कहते हैं।

वतलाना हो तो पहले से लेकर पांचवें गुणस्थान तक पूर्व गाथा में कहे गये पर्याप्त तिर्यंचों के वंधस्वामित्व के अनुसार बध समझना चाहिए। लेकिन इतनी विशेषता है कि चौथे और पांचवें गुणस्थान में पर्याप्त तिर्यंच ७० और ६६ प्रकृतियों का वंध करते हैं, उसको वजाय पर्याप्त मनुष्यों के चौथे गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का भी वंध हो सकने से ७१ तथा पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का वंध होता है। अर्थात् पर्याप्त मनुष्य पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे गुणस्थान में १०१, तीसरे गुणस्थान में ६९, चौथे गुणस्थान में ७१ और पाँचवें गुणस्थान में ६७ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं और छठे गुणस्थान से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक दूसरे कर्मग्रन्थ में वताये गये वधाधिकार के समान वंध समझना चाहिए।

अपर्याप्त मनुष्य और तिर्यंच के तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरक-त्रिक पर्यन्त ग्यारह प्रकृतियों का वन्ध ही नहीं होता है तथा पहला गुणस्थान होता है अतः सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा १०९ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार मनुष्यगति में वधस्वामित्व वतलाने के वाद अव आगे की गाथा में देवगति के वंधस्वामित्व का वर्णन करते हैं—

> निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ॥
> कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

गाथार्थ—नारकों के प्रकृतिवंध के ही समान देवों के भी वध समझना चाहिए। लेकिन सामान्य से और पहले गुणस्थान की वंधयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेषता है। क्योंकि एकेन्द्रिय-त्रिक को देव वाँधते हैं, किन्तु नारक नहीं वांधते हैं। कल्पद्विक में इसी प्रकार समझना चाहिए तथा ज्योतिष्कों, भवनपतियों और व्यंतर देव निकायों के, तीर्थंकर नामकर्म के सिवाय अन्य सब प्रकृतियों का वंध पहले और दूसरे देवलोक के देवों के समान समझना चाहिए।

विशेषार्थ—अव देवगति में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा वंधस्वामित्व वतलाते हैं। देवों के भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिष्क और कल्पवासी ये चार निकाय हैं और देवगति में भी नरकगति के समान पहले चार गुणस्थान होते हैं। अतः सामान्य से वंधस्वामित्व वतलाने के वाद चारों निकायों में गुणस्थानों की अपेक्षा वंधस्वामित्व का वर्णन किया जा रहा है।

यद्यपि देवों का प्रकृतिवंध नारकों के प्रकृतिवंध के समान है तथापि देवगति में एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम और आतप नाम – का भी बंध हो सकने से सामान्य वंधयोग्य व पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में नरकगति की अपेक्षा वन्धयोग्य प्रकृतियों में कुछ विशेषता होती है।

'निरय व्व सुरा' नारकों की तरह देवों के भी वन्ध कहने का मतलव यह है कि जैसे नारक मरकर नरकगति और देवगति में उत्पन्न नहीं होते हैं, वैसे ही देव भी मरकर इन दोनों गतियों में उत्पन्न नही होते हैं। इसलिए देवत्रिक, नरकत्रिक और वैक्रियद्विक —इन आठ प्रकृतियों का वन्ध नहीं करते हैं तथा सर्वविरत संयम के अभाव में आहारकद्विक का भी वंध नहीं करते हैं और देव मरकर सूक्ष्म एकेन्द्रिय तथा विकलेन्द्रियो में भी उत्पन्न नहीं होते हैं, जिससे सूक्ष्मत्रिक और विकलेन्द्रियत्रिक इन छह प्रकृतियों का वन्ध नहीं करते हैं। इस प्रकार उक्त कुल सोलह प्रकृतियाँ वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने पर सामान्य से १०४ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

नरकगति में जो वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से सुरद्विक से लेकर आतप नामकर्म पर्यन्त १९ प्रकृतियों का वन्ध नहीं होने से १०१ प्रकृतियों का वन्ध कहा गया है। वहाँ एकेन्द्रियत्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है। लेकिन देव मरकर वादर एकेन्द्रिय में उत्पन्न हो सकते हैं अतएव नारकियों की अपेक्षा एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप—३ प्रकृतियों को देव अधिक वाँधते हैं। इसलिए नरकगति

समान ही देवों के सामान्य से वन्ध मानकर भी नरकगति की अवन्ध्य उन्नीस प्रकृतियों में से एकेन्द्रियत्रिक का वन्ध होने से देवों के १०१ की वजाय १०४ का वन्ध माना जाता है।

इस प्रकार सामान्य से देवगति में जो १०४ प्रकृतियों का वन्ध वतलाया गया है, उसी प्रकार कल्पवासी देवों के पहले सौधर्म और दूसरे ईशान इन दो कल्पों तक समझना चाहिए।

सामान्य से वन्धयोग्य १०४ प्रकृतियों में से देवगति तथा पूर्वोक्त कल्पद्विक के देवों के मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का वध न होने से १०३ प्रकृतियों का वन्ध होता है तथा शेप दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में नरकगति के समान ही क्रमशः ९६, ७० और ७२ प्रकृतियों का वंध होता है।

ज्योतिष्क, भवनवासी और व्यतर निकाय के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का वंध नहीं होने से सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की अपेक्षा १०३ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए। क्योंकि इन तीन निकायों के देव वहाँ से निकल कर तीर्थंकर नहीं होते हैं और तीर्थंकर नाम की सत्ता वाले जीव भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिष्क देवनिकायों में उत्पन्न नहीं होते हैं तथा इन तीन निकायों के जीव अवधिज्ञान सहित परभव में जाते नहीं और तीर्थंकर अवधिज्ञान सहित ही परभव में जाकर उत्पन्न होते हैं। इसलिए इन तीन निकायों के देवों के तीर्थंकर नामकर्म का वंध नहीं होता है।

इसलिए ज्योतिष्क आदि तीन निकायों के देवों के सामान्य से और पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में तीर्थंकर नामकर्म का वंध न होने से ७२ की वजाय ७१ प्रकृतियों का वंध होता है।

सारांश यह है कि देवगति में सामान्य की अपेक्षा नरकगति के समान वन्ध होने का नियम होने पर भी एकेन्द्रियत्रिक का वंध अधिक होता है। इसलिए जैसे नरकगति में सामान्य

प्रकृतियों का बंध माना जाता है, उसकी अपेक्षा इन १०१ प्रकृति
में एकेन्द्रियत्रिक को और मिलाने पर १०४ प्रकृतियों का
समझना चाहिए।

इन १०४ प्रकृतियों का वन्ध सामान्य से कल्पवासी देवों तथा प
और दूसरे कल्प के देवों को समझना चाहिए। लेकिन मिथ्यात्व गु
स्थान में तीर्थंकर नामकर्म का बन्ध नहीं होने से १०३ प्रकृतियों
दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व के उदय से बँधने वाली एकेन्द्रिय ज
आदि सात प्रकृतियों के नहीं बँधने से ९६ और इन ९६ प्रकृतियों म
अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि २६ प्रकृतियों को कम करने से ती
गुणस्थान में ७० प्रकृतियों का वन्ध होता है और चौथे गुणस्थ
में मनुष्यायु एवं तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध होने से मिश्र गुणस्थ
की ७० प्रकृतियों में इन दो प्रकृतियों को जोड़ने से ७२ प्रकृ
का वन्ध होता है।

ज्योतिष्क, भवनपति और व्यंतर निकाय के देवों के तीर्थ
नामकम का वन्ध नहीं होता है। अतः इन तीनों निकायों के
के सामान्य से वन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०३ हैं तथा मिथ्यात्व गुणस्
में भी १०३ प्रकृतियों का वंध होता है। दूसरे तथा तीसरे गुणस्
में कल्पवासी देवों के समान ही ९६ और ७० प्रकृतियों का
चौथे गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध न होने से ७२
वजाय ७१ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से देवगति में सामान्य से तथा कल्पवासियों के क
द्विक तथा ज्योतिष्क, भवनपति और व्यंतर निकायों के गुणस्थ
की अपेक्षा वंधस्वामित्व वतलाने के वाद आगे की गाथा
सनत्कुमारादि कल्पों और इन्द्रिय एवं काय मार्गणा में वन्धस्वा
का वर्णन करते हैं—

रयण व्व सणकुमाराई आणयाई उजोयचउरहिया।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिविपुढविजलतरुविगले ॥११

...र्थ — सनत्कुमारादि देवलोकों में रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान तथा आनतादि में उद्योत चतुष्क के सिवाय शेष बंध समझना चाहिए। एकेन्द्रिय, पृथ्वी, जल, वनस्पति और विकलेन्द्रियों में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

विशेषार्थ — इस गाथा में सनत्कुमार आदि तीसरे देवलोक से लेकर नवग्रैवेयक देवों पर्यन्त तथा इन्द्रियमार्गणा के एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय — द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय एवं कायमार्गणा के पृथ्वी, जल, वनस्पति काय के जीवों के वन्धस्वामित्व को वतलाया गया है।

गाथा में सनत्कुमार नामक तीसरे देवलोक से नवग्रैवेयक तक के देवों के वन्धस्वामित्व का वर्णन दो विभागों में किया गया है। ...हले विभाग में सनत्कुमार से लेकर आनत स्वर्ग के पूर्व सहस्रार ...क के देवों को और दूसरे विभाग में आनत स्वर्ग से लेकर नवग्रैवे...क पर्यन्त देवों को ग्रहण किया है। यद्यपि गाथा में अनुत्तर ...मानों के वारे में संकेत नहीं किया गया है, लेकिन अनुत्तर विमानों ...सदैव सम्यग्दृष्टि जीव उत्पन्न होते हैं और उनके चौथा गुणस्थान ...होता है। इसलिए कर्मप्रकृतियों के बन्ध में न्यूनाधिकता न होने ...ामान्य व गुणस्थान की अपेक्षा एक-सा ही बन्ध होता है। देवों ...चौथे गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है, अतः इनके भी समझना चाहिए।

...क्त दो विभागों में पहले विभाग के सनत्कुमार से सहस्रार ...क तक के देव जैसे रत्नप्रभा नरक के नारक सामान्य से और ...ानों में जितनी प्रकृतियों का बन्ध करते हैं, वैसे ही उतनी ...यों का बन्ध इन देवों को समझना चाहिए। क्योंकि ये देव ... देवलोकों में ये देव [illegible] एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते ... एकेन्द्रिय प्रायोग्य एकेन्द्रिय जाति, स्थावर नाम [illegible] ...न तीन प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। [illegible] ...प्रकृतियों को छोड़ते हैं। [illegible]

कर्म से रहित १००, सास्वादन गुणस्थान में नपुंसक चतुष्क के विना ९६ और मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि २६ से रहित ७० और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यायु, तीर्थंकर नामकर्म का भी बंध होने से ७२ प्रकृतियों को वाँधते हैं।

आनतादि नवग्रैवेयक पर्यन्त के देव उद्योत चतुष्क-उद्योतनाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु इन चार प्रकृतियों को नहीं वाँधते हैं। क्योंकि इन स्वर्गों से च्यव कर ये देव मनुष्य में ही उत्पन्न होते हैं, तिर्यंचों में नहीं। अतः तिर्यंच योग्य इन चार प्रकृतियों को नहीं वाँधते हैं। इसलिए १२० प्रकृतियों में सुरद्विक आदि उन्नीस और उद्योत आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९७ प्रकृतियों का सामान्य से वंध करते हैं और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का वंध करते हैं।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव ही उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथा गुणस्थान होता है। अतः इनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा ७२ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से गतिमार्गणा में वंधस्वामित्व वतलाने के बाद अव आगे इन्द्रिय और काय मार्गणा में वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का वंध करते हैं।[1] क्योंकि अपर्याप्त तिर्यंच या मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियों का वन्ध नहीं करते हैं, इसी प्रकार यह सातों मार्गणा वाले जीवों के सम्यक्त्व नहीं है तथा देवगति और

---

१ जिण इक्कारस हीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा।

—कर्मग्रन्थ ३, गा० ६

नरकगति में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन ग्यारह प्रकृतियों का बन्ध नहीं करते हैं। इसलिए इनके सामान्य से व मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

सारांश यह कि सनत्कुमार से लेकर सहस्रार देवलोक पर्यन्त के देव रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान ही सामान्य से १०१ प्रकृतियों का और मिथ्यात्व गुणस्थान में १००, सास्वादन गुणस्थान में ९६, मिश्र गुणस्थान में ७० तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

आनत से लेकर नव ग्रैवेयक तक के देव तिर्यंचगति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः तिर्यंचगतियोग्य उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु का बंध नहीं करते हैं अतः सनत्कुमारादि देवों में सामान्य से बंधयोग्य बताई गई १०१ प्रकृतियों में से इन चार प्रकृतियों को भी कम करने से सामान्य से ९७ प्रकृतियों का बंध करते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा आनत आदि कल्पों के देवों में बंधस्वामित्व क्रमशः ९६, ९२, ७०, ७२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव उत्पन्न होते हैं और उनके चौथा गुणस्थान होता है। अतः उनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा पूर्व में कहे गये देवों के चौथे गुणस्थान के बंधस्वामित्व के समान ७२ प्रकृतियों का बंध समझना चाहिए।

गतिमार्गणा के प्रभेदों में बंधस्वामित्व को बतलाने के बाद क्रमप्राप्त इन्द्रिय और काय मार्गणा में बंधस्वामित्व का कथन किया है।

इन्द्रियां पांच होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र और जिस जीव को क्रम से जितनी-जितनी इन्द्रियां होती हैं, उसको

कर्म से रहित १००, सास्वादन गुणस्थान में नपुंसक चतुष्क के विना ९६ और मिश्र गुणस्थान में अनन्तानुवन्धी चतुष्क आदि २६ से रहित ७० और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में मनुष्यायु, तीर्थंकर नामकर्म का भी वंध होने से ७२ प्रकृतियों को बाँधते हैं।

आनतादि नवग्रैवेयक पर्यन्त के देव उद्योत चतुष्क-उद्योतनाम, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। क्योंकि इन स्वर्गों से च्यव कर ये देव मनुष्य में ही उत्पन्न होते हैं, तिर्यंचों में नहीं। अतः तिर्यंच योग्य इन चार प्रकृतियों को नहीं बाँधते हैं। इसलिए १२० प्रकृतियों में सुरद्विक आदि उन्नीस और उद्योत आदि चार प्रकृतियों को कम करने से ९७ प्रकृतियों का सामान्य से बंध करते हैं और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ९६, दूसरे में ९२, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बंध करते हैं।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव ही उत्पन्न होते हैं और सम्यक्त्व की अपेक्षा चौथा गुणस्थान होता है। अतः इनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा ७२ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से गतिमार्गणा में वंधस्वामित्व वतलाने के बाद अब आगे इन्द्रिय और काय मार्गणा में वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं।

इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय तथा कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का वंध करते हैं।[1] क्योंकि अपर्याप्त तिर्यंच या मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरक त्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियों का वन्ध नहीं करते हैं, इसी प्रकार ये सातों मार्गणा वाले जीवों के सम्यक्त्व नहीं है तथा देवगति और

---

१ जिण इक्कारस हीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा।

—कर्मग्रन्थ ३, गा०

नरकगति में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए तीर्थंकर नाम, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग इन ग्यारह प्रकृतियों का वन्ध नहीं करते हैं। इसलिए इनके सामान्य से व मिथ्यात्व गुणस्थान में १०६ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

सारांश यह कि सनत्कुमार से लेकर सहस्रार देवलोक पर्यन्त के देव रत्नप्रभा नरक के नारकों के समान ही सामान्य से १०१ प्रकृतियों का और मिथ्यात्व गुणस्थान में १००, सास्वादन गुणस्थान में ६६, मिश्र गुणस्थान में ७० तथा अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७२ प्रकृतियों का वंध करते हैं।

आनत से लेकर नव ग्रैवेयक तक के देव तिर्यंचगति में उत्पन्न नहीं होते हैं। अतः तिर्यंचगतियोग्य उद्योत, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु का बंध नहीं करते हैं अतः सनत्कुमारादि देवों में सामान्य से वंधयोग्य वताई गई १०१ प्रकृतियों में से इन चार प्रकृतियों को भी कम करने से सामान्य से ६७ प्रकृतियों का वंध करते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा आनत आदि कल्पों के देवों में वंधस्वामित्व क्रमशः ६६, ६२, ७०, ७२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

अनुत्तर विमानों में सम्यक्त्वी जीव उत्पन्न होते हैं और उनके चौथा गुणस्थान होता है। अतः उनके सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा पूर्व में कहे गये देवों के चौथे गुणस्थान के वंधस्वामित्व के समान ७२ प्रकृतियों का वंध समझना चाहिए।

गतिमार्गणा के प्रभेदों में वंधस्वामित्व को वतलाने के वाद क्रमप्राप्त इन्द्रिय और काय मार्गणा में बंधस्वामित्व का कथन किया है।

इन्द्रियाँ पाँच होती हैं—स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र और जिस जीव को क्रम से जितनी-जितनी इन्द्रियाँ होती हैं, उसको

उतनी इन्द्रियों वाला जीव कहते हैं; जैसे—जिसके पहली स्पर्शनेन्द्रिय होती है उसे एकेन्द्रिय, जिसके स्पर्शन, रसना यह दो इन्द्रियाँ होती हैं, उसे द्वीन्द्रिय कहते हैं। इसीप्रकार क्रम-क्रम से एक इन्द्रिय को वढ़ाते जाने पर पंचेन्द्रिय जीव कहे जाते हैं। इन एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक के जीवों में से इस गाथा में एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जीवों का तथा कायमार्गणा के पहले वताये गये छह भेदों में से पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय—इन तीन कायों का बंधस्वामित्व वतलाया गया है।

ये एकेन्द्रिय से लेकर चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी, अप् और वनस्पतिकाय कुल सात प्रकार के जीवों में पहले गतिमार्गणा में कहे गये अपर्याप्त तिर्यंचों के बंधस्वामित्व के समान ही १०९ प्रकृतियों का सामान्य से वंध समझना चाहिए तथा अपर्याप्त तिर्यंचों के पहले गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०९ प्रकृतियों का वंध समझना चाहिए।

इस प्रकार गतिमार्गणा में सनत्कुमार से अनुत्तर तक के देव तथा इन्द्रियमार्गणा में एकेन्द्रिय व विकलेन्द्रियों और कायमार्गणा में पृथ्वीकाय, अपकाय और वनस्पतिकाय के वंधस्वामित्व को वतलाने के वाद अव आगे की गाथा में एकेन्द्रिय आदि का सास्वादन गुणस्थान की अपेक्षा वन्धस्वामित्व सम्वन्धी मन्तान्तर वतलाते हैं —

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण विंति चउनवइं।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं[1] न ते जंति ॥१२॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त एकेन्द्रिय आदि जीव सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियों के विना सास्वादन गुणस्थान में ९६ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं। किन्हीं आचार्यों का मत है कि वे शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं करते हैं, अतः तिर्यंच आयु और मनुष्यायु के विना ९४ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।

---

१. 'न जंति जओ' ऐसा भी पाठ है।

विशेषार्थ—इस गाथा में एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, पृथ्वी, अप् और वनस्पति काय के जीवों के सास्वादन गुणस्थान में वन्धस्वामित्व को वतलाया है।

पूर्व गाथा में एकेन्द्रिय आदि जीवों के सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में अपर्याप्त तिर्यंचों के समान १०६ प्रकृतियों का वन्ध वतलाया था। इन १०६ प्रकृतियों में से सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक,[1] विकलत्रिक,[2] एकेन्द्रिय जाति स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुंड संस्थान और सेवार्त संहनन ये १३ प्रकृतियाँ मिथ्यात्व के उदय से वँधती हैं, किंतु सास्वादन गुणस्थान में मिथ्यात्व का उदय न होने से, इनको कम करने पर ९६ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं। क्योंकि भवनपति, व्यतर आदि देव जाति के देव मिथ्यात्व निमित्तक एकेन्द्रिय प्रायोग्य आयु का वन्ध करने के अनन्तर सम्यक्त्व प्राप्त करें तो वे मरण के समय सम्यक्त्व का वमन करके एकेन्द्रिय रूप में उत्पन्न होते हैं। उनके शरीर पर्याप्ति पूर्ण करने के पहले सास्वादन सम्यक्त्व हो तो वे ९६ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।

लेकिन दूसरे आचार्यों का मत है कि ये एकेन्द्रिय आदि दूसरे गुणस्थान के समय तिर्यंच आयु और मनुष्य आयु का भी वन्ध नहीं करने से ९४ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।[3] इसी ग्रन्थ में आगे औदारिकमिश्र में भी सास्वादन गुणस्थान में आयुवन्ध का निषेध किया है, क्योंकि वह अपर्याप्त है। यह सिद्धान्त है कि कोई भी जीव इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी किये विना आयु का वन्ध नहीं कर सकते हैं।

---

१. सूक्ष्म नाम, साधारण नाम, अपर्याप्त नाम

२. द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय

३. सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर।

—कर्मग्रन्थ ३, गाथा १४

९६ और ९४ प्रकृतियों के वन्धस्वामित्व को मतभिन्नता प्राचीन बंधस्वामित्व में भी देखी जाती है। इस सम्वन्धी गाथाएँ निम्न प्रकार हैं—

साणा बंधहिं सोलस नरतिग हीणा य मोत्तु छन्नउइं।
ओघेणं वीसुत्तर सयं च पंचिंदिया बंधे ॥२३॥
इगविगलिंदी साणा तणु पज्जत्तिं न जंति जं तेण।
नर तिरयाउ अबंधा मयंतरेणं तु चउणउइं ॥२४॥

९६ प्रकृतियों का वन्ध मानने वालों का अभिप्राय यह प्रतीत होता है कि इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण हो चुकने के वाद, जवकि आयुवंध का काल आता है, तव तक सास्वादन भाव वना रहता है। इसलिए सास्वादन गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि जीव तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु का वन्ध कर सकते हैं।

लेकिन ९४ प्रकृतियों का वंध मानने वाले आचार्यों का मत है कि एकेन्द्रिय जीव का जघन्य आयुष्य २५६ आवलिका होता है। आगामी भव का आयुष्य इस भव के आयुष्य के दो भाग वीत जाने के वाद तीसरे भाग में वँधता है, अर्थात् आगामी भव का आयुष्य २५६ आवलिका के दो भाग १७० समय वीत जाने के वाद तीसरे भाग की १७१ वीं आवली में वँधता है और सास्वादन सम्यक्त्व का समय छह आवली पहले ही पूरा हो जाता है। सास्वादन अवस्था में पहली तीन पर्याप्ति पूर्ण हो जाती हैं, यदि ऐसा मान भी लिया जाय तो भी आयुष्य वन्ध सम्भव नहीं माना जा सकता है तथा औदारिकमिश्र मार्गणा में ९४ प्रकृतियों का वंध कहा गया है। अतः ९४ प्रकृतियों के वंध का मत युक्तिसंगत मालूम होता है इसी मत के समर्थन में श्री जीवविजय जी तथा जयसोमसूरि ने अपने टवे में यही वात कही है। इसी मत का समर्थन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने भी किया है—

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

को पूरी नहीं कर सकता है, इससे उसको उस अवस्था में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का वन्ध नहीं होता है।"

उक्त प्रमाणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि ६४ के वन्ध का पक्ष विशेष सम्मत है और युक्तियुक्त प्रतीत होता है। फिर भी ६६ प्रकृतियों के वन्ध को मानने वाले आचार्यों का क्या अभिप्राय है, यह केवलीगम्य है।

सारांश यह है कि एकेन्द्रिय, विकलत्रय—द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय चतुरिन्द्रिय, पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय के जीव सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की वंधयोग्य १०६ प्रकृतियों में से कम करने पर ६६ प्रकृतियों को वाँधते हैं तथा किन्हीं-किन्हीं आचार्यों का मत है कि इन एकेन्द्रिय आदि वनस्पति काय पर्यन्त सात मार्गणा वाले जीवों के सास्वादन गुणस्थान में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न होने से परभव सम्वन्धी मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी वन्ध नहीं होता है। अतः ६४ प्रकृतियों का वंध करते हैं।

इस प्रकार से एकेन्द्रिय आदि के वंधस्वामित्व का कथन करने के वाद आगे की गाथा पंचेन्दिय, गतित्रस और योग मार्गणा सम्वंधी वंधस्वामित्व को वतलाते हैं—

ओहु पणिदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥१३॥

गाथार्थ—पंचेन्द्रिय जाति व त्रसकाय में ओघ—वंधाधिकार में वताये गये वंध के समान वन्ध जानना तथा गतित्रस में जिन-एकादश तथा मनुष्यत्रिक एवं उच्चगोत्र के सिवाय शेष १०५ प्रकृतियों का वंध होता है तथा मनोयोग और वचनयोग में ओघ—वंधाधिकार के समान तथा औदारिक काययोग में मनुष्य गति के समान वन्ध समझना और औदारिक मिश्र में वन्ध का वर्णन आगे की गाथा में करते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में पंचेन्द्रिय जाति, त्रसकाय, गतित्रस के वन्ध का कथन करने के साथ योगमार्गणा में वन्ध के कथन का प्रारंभ किया गया है।

पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार में सामान्य से तथा गुणस्थानों की अपेक्षा कहे गये बंध के अनुसार ही समझना चाहिए, अर्थात् जैसा कर्मग्रथ दूसरे भाग में सामान्य से १२० और विशेष रूप से गुणस्थानों में पहले से लेकर तेरहवें पर्यन्त कमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियों का बंध कहा है, वैसा ही पंचेन्द्रिय जाति और त्रसकाय में सामान्य से १२० और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिये। इसी तरह आगे भी जिस मार्गणा में बंधाधिकार के समान बंध-स्वामित्व कहा जाय, वहाँ उस मार्गणा में जितने गुणस्थानों की संभावना हो, उतने गुणस्थानों में बंधाधिकार के समान वन्ध-स्वामित्व समझ लेना चाहिये।

शास्त्र में त्रस जीव दो प्रकार के माने गये हैं—गतित्रस, लब्धि-त्रस। जिन्हें त्रस नामकर्म का उदय होता है और जो चलते-फिरते भी हैं, उन्हें लब्धित्रस[1] तथा जिनको उदय तो स्थावर नामकर्म का होता है, परन्तु गतिक्रिया पाई जाती है, उन्हें गतित्रस कहते हैं। उक्त दोनों प्रकार के त्रसों में से लब्धित्रसों के वंधस्वामित्व को वतलाया जा चुका है। अव गतित्रस के वन्धस्वामित्व को वतलाते हैं।

गतित्रस के दो भेद हैं—तेउकाय और वायुकाय। इन दोनों के स्थावर नामकर्म का उदय है। लेकिन गति साधर्म्य से उनको गतित्रस कहते हैं।

---

१ द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय, ये लब्धित्रस कहलाते हैं। इनको त्रस नामकर्म का उदय है।

इन दोनों त्रसों के सामान्य से वन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से जिन एकादश अर्थात् तीर्थंकर नामकर्म से लेकर नरकत्रिक पर्यन्त ११ प्रकृतियों तथा मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है। अतः १२० प्रकृतियों में से १५ प्रकृतियों का कम करने से १०५ प्रकृतियों का बंध होता है।

तीर्थंकर नामकर्म आदि १५ प्रकृतियों के बंध न होने का कारण यह है कि तेउकाय और वायुकाय के जीव देव, मनुष्य और नारकों में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए उनके योग्य १४ प्रकृतियों का बंध नहीं करते हैं। तेउकाय और वायुकाय जीव तिर्यंचगति में उत्पन्न होते हैं तथा वहाँ भव निमित्तक नीच गोत्र उदय में होता है, इसलिए उच्च गोत्र का वन्ध नहीं कर सकते हैं।

इन दोनों गतित्रसों के सिर्फ मिथ्यात्व गुणस्थान ही होता है, सास्वादन गुणस्थान नहीं होता है, क्योंकि सम्यक्त्व का वमन करता हुआ कोई जीव इस गुणस्थान में आकार उत्पन्न नहीं होता है। इसलिए सामान्य से जैसे तेउकाय और वायुकाय के जीव १०५ प्रकृतियों को वाँधते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व गुणस्थान में भी १०५ प्रकृतियों का वंध होता है।

कायमार्गणा में वन्धस्वामित्व का कथन करने के वाद अव योगमार्गणा में प्रकृति वन्ध वतलाते हैं।

योग के मूल में मनोयोग, वचनयोग और काययोग—ये तीन मुख्य भेद हैं और इनमें भी मनोयोग के चार, वचनयोग के चार और काययोग के सात भेद होते हैं। मनोयोग और मनोयोग सहित वचन योग इन दो भेदों में तेरह गुणस्थान होते हैं, अतः उनमें दूसरे कर्मग्रंथ में वतलाये गये वंध के अनुसार ही वन्ध समझना चाहिये।

गाथा के 'मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु' पद में मणवयजोगे तथा उरले—ये दोनों पद सामान्य हैं। तथापि 'ओहो' और 'नरभंगु' पद के सान्निध्य से 'वयजोग' का मतलव मनोयोग सहित वचनयोग

और उरल का मतलब मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काय-योग समझना चाहिये और उसी दृष्टिकोण की अपेक्षा बन्धस्वामित्व का विचार किया गया है। लेकिन वयजोग से केवल वचनयोग और उरल से केवल औदारिक काययोग ग्रहण किया जाय तो मनोयोग रहित वचनयोग में बन्धस्वामित्व विकलेन्द्रिय के समान और काययोग में एकेन्द्रिय के समान समझना चाहिए। अर्थात् जैसे विकलेन्द्रियों और एकेन्द्रिय में क्रमशः सामान्य से १०९, मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ और सास्वादन गुणस्थान में ९६ अथवा ९४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है उसी प्रकार इनमें भी बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि पंचेन्द्रिय तथा त्रस मार्गणा में सामान्य बंधाधिकार के समान बंध समझना और गतित्रसों में जिन एकादश, मनुष्यत्रिक और उच्चगोत्र इन १५ प्रकृतियों को कम करने से १०५ प्रकृतियों का सामान्य से और पहले गुणस्थान में बंध होता है।

योग मार्गणा में मनोयोग, वचनयोग सहित औदारिक काय-योग वालों के पर्याप्त मनुष्य में कहे गये बन्ध के समान ही बन्ध समझना। केवल वचनयोग और काययोग का बन्धस्वामित्व एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रियों के समान बताए गए बन्ध के समान समझना चाहिए।

इस प्रकार मन; वचन व उन सहित औदारिक काययोग में पूर्ण रूप से तथा काययोग में औदारिक काययोग का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे काययोग के शेष भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। उनमें से सर्वप्रथम औदारिकमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व बतलाते हैं—

आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ[1] सुहुमतेर ॥१४॥

---

१. तिरिअनराऊ—इति पाठान्तरम्

गाथार्थ—(पूर्व गाथा से तम्मिसे पद यहां लिया जाय) औदारिक मिश्रयोग में सामान्य से आहारकषट्क के विना ११४ प्रकृतियों का वन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननामपंचक से हीन १०९ प्रकृतियों का वन्ध मानना चाहिए तथा सास्वादन में मनुष्यायु और तिर्यंचायु तथा सूक्ष्मत्रिक आदि तेरह कुल १५ प्रकृतियों के सिवाय ९४ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

विशेषार्थ—गाथा में औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में सामान्य रूप से और पहले, दूसरे गुणस्थान में बंधस्वामित्व का कथन किया गया है।

पूर्व भव से आने वाला जीव अपने उत्पत्ति स्थान में प्रथम समय में केवल कार्मणयोग द्वारा आहार ग्रहण करता है। उसके वाद औदारिक काययोग की शुरूआत होती है, वह शरीरपर्याप्ति वनने तक कार्मण के साथ मिश्र होता है और केवलि समुद्घात अवस्था में दूसरे, छठे और सातवें समय में कार्मण के साथ औदारिकमिश्र योग होता है।

औदारिकमिश्र काययोग मनुष्य और तिर्यंचों के अपर्याप्त अवस्था में ही होता है और इसमें पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां ये चार गुणस्थान होते हैं।

औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से आहारकद्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपाग, देवायु और नरकत्रिक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु इन छह को वंधयोग्य १२० प्रकृतियों में से कम करने से ११४ प्रकृतियों का वंध होता है। क्योंकि विशिष्ट चारित्र के अभाव में तथा सातवें गुणस्थान में वन्ध होने से आहारकद्विक का औदारिकमिश्र काययोग में वन्ध नहीं हो सकता तथा देवायु और नरकत्रिक—इन चार प्रकृतियों का वंध सम्पूर्ण पर्याप्ति पूर्ण किये विना नहीं होता है, अतः इन छह प्रकृतियों का वंध औदारिकमिश्र काययोग में नहीं माना जाता है।

औदारिकमिश्र काययोग में पहले मिथ्यात्व गुणस्थान के अन्त जिनपंचक—तीर्थङ्कर नामकर्म, देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग को सामान्य से बंधयोग्य ११४ प्रकृतियों में से कम करने पर १०९ प्रकृतियों का बंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में जो १०९ प्रकृतियों का बंधस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान में माना गया है, उसमें से मनुष्यायु और तिर्यंचायु का भी ग्रहण किया गया है। इस सम्बन्ध में शीलांकाचार्य का मत है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने के पूर्व तक होता है।[1]

श्री भद्रबाहुस्वामी ने भी इसी मत के समर्थन में युक्ति दी है कि—

जोएण कम्मएणं आहारेइ अणंतरं जीवो।
तेण परं मीसेणं जाव सरीर निप्फत्ती॥

इसको लेकर श्री जीवविजयजी ने अपने टब्बे में शंका उठाई है कि औदारिकमिश्र काययोग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नहीं और आयुबंध शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति पूरी हो जाने के बाद होता है, पहले नहीं। अतएव औदारिक-मिश्र काययोग के समय, अर्थात् शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने से पूर्व में आयु का बंध संभव नहीं है। इसलिए उक्त दो आयुओं का १०९ प्रकृतियों में ग्रहण विचारणीय है।

लेकिन यह कोई नियम नहीं है कि शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने पर्यन्त औदारिकमिश्र काययोग रहता, बाद में नहीं।

श्री भद्रबाहुस्वामी ने जो युक्ति दी है उसमें शरीर निप्फत्ती पद का यह अर्थ नहीं है कि शरीर पूर्ण बन [illegible] तब तक मिश्र योग रहता है। शरीर की पूर्णता केवल शरीर पर्याप्ति के बन जाने से नहीं हो सकती है। इसके लिए जीव का [illegible] इन्द्रिय, श्वासोच्छ्वास, भाषा और मन पर्याप्तियों [illegible]

---

१. औदारिककाययोग [illegible]

पूरा वन जाना माना जा सकता है। सरीर निपफत्ती पद का यह अ स्वकल्पित नहीं है। इस अर्थ का समर्थन स्वयं ग्रन्थकार श्री देवेन्द्र सूरि ने स्वरचित चौथे कर्मग्रन्थ की चौथी गाथा[1] के 'तणुपज्जेसु उरलमन्ने' इस अंश की निम्नलिखित टीका में किया है—

यद्यपि तेषां शरीरपर्याप्तिः समजनिष्ट तथापीन्द्रियोच्छ्वासा नामद्याप्यनिष्पन्नत्वेन शरीरस्यासंपूर्णत्वादतएव कार्मणस्याप्यद्यापि व्याप्रियमा त्वादौदारिक मिश्रमेव तेषां युक्त्या घटमानकमिति।

जव यह भी पक्ष है कि स्वयोग्य सव पर्याप्तियां पूरी हो जाते तक औदारिकमिश्र काययोग रहता है, तव औदारिकमिश्र काय-योग शरीर पर्याप्ति के पूर्ण होने पर्यन्त रहता है, आगे नहीं और आयुबंध शरीर पर्याप्ति और इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के वाद होता है, पहले नहीं - इस संदेह को कुछ भी अवकाश नहीं रहता है। क्योंकि इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण वन जाने के वाद जव कि आयुबंध का अवसर आता है, तव भी औदारिकमिश्र काययोग तो रहता ही है। इसलिये औदारिकमिश्र काययोग में मिथ्यात्व गुणस्थान के समय मनुष्यायु और तिर्यंचायु— इन दो आयुओं का वन्धस्वमित्व माना जाना इस पक्ष की अपेक्षा युक्त ही है।

मिथ्यात्व गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग में उक्त दो आयुओं के वंध का पक्ष जैसा कर्मग्रन्थ में निर्दिष्ट किया गया है, वैसा ही गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी वताया है—

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहार णिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ॥११६॥

अर्थात् औदारिकमिश्र काययोग में औदारिक काययोगवत् रचना जानना। विशेप वात यह है कि देवायु, नरकायु, आहारकद्विक, नरक-गति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों का वन्ध भी नहीं होता है,

---

१ अपजत्तछक्कि कम्मुरलमीस जोगा अपज्जसन्निसु ते।
नविउव्वमीस एसु तणुपज्जेसु उरलमन्ने ॥

र्थात् ११४ प्रकृतियों का वन्ध होता है। उसमें भी मिथ्यात्व और ास्वादन इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थंकर नामकर्म न पाँच प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है, परन्तु चौथे अविरत म्यग्दृष्टि गुणस्थान में इनका वन्ध होता है।

उक्त कथन की पुष्टि श्री जयसोमसूरि ने अपने टवे में भी की । उन्होंने लिखा है कि 'यदि यह पक्ष माना जाय कि शरीर र्याप्ति पूर्ण होने तक ही औदारिकमिश्र काययोग रहता है तो मथ्यात्व में तिर्यगायु तथा मनुष्यायु का वन्ध कथमपि नहीं हो ाकता है। इसलिए इस पक्ष की अपेक्षा उस योग में सामान्य रूप े ११२ और मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व ामझना चाहिये।' इस कथन से स्वयोग्य पर्याप्तियाँ पूर्ण वन जाने र्यन्त औदारिकमिश्र काययोग रहता है—इस पक्ष की स्पष्ट सूचना मिलती है। इससे यह स्पष्ट हो जाता हैं कि औदारिकमिश्र काययोग में सामान्य से वधयोग्य ११४ प्रकृतियाँ और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में १०६ प्रकृतियाँ बंधयोग्य मानना युक्तिसंगत है।

पहले गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग का वंधस्वामित्व वत-लाने के वाद अव दूसरे सास्वादन गुणस्थान में वन्धस्वामित्व वतलाते हैं। इस गुणस्थान में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का वन्ध नहीं होता है। क्योंकि सास्वादन गुणस्थान में वर्तता जीव शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं करता है। क्योंकि शरीर पर्याप्ति पूर्ण हो जाने के वाद आयुवन्ध होना संभव है तथा यहाँ मिथ्यात्व का उदय न होने से मिथ्यात्व के उदय से वन्धने वाली सूक्ष्मत्रिक से लेकर सेवार्त संहनन पर्यन्त १३ प्रकृतियों का भी वन्ध नहीं होता है। अतः उक्त दो और तेरह कुल पन्द्रह प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की वन्धयोग्य १०६ प्रकृतियों में से कम करने पर ६४ प्रकृतियों का वन्ध होता है। अर्थात् उक्त १५ प्रकृतियों में से १३ प्रकृतियों का विच्छेद मिथ्यात्व गुणस्थान के चरम समय में हो जाने से तथा दो आयु अवन्ध औदारिकमिश्र काययोग वाले के दूसरे सास्वादन गु प्रकृतियों का वन्ध होता है।

सारांश यह है कि औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा सामान्य से ११४ प्रकृतियां बन्धयोग्य हैं और इस योग वाले पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां—ये चार गुणस्थान होते हैं इनमें से पहले गुणस्थान में १०९ तथा दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

इसप्रकार औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में सामान्य तथा गुणस्थान की अपेक्षा पहले, दूसरे गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद आगे की गाथा में चौथे और तेरहवें गुणस्थान में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं। साथ ही कार्मण काययोग और आहारक काययोगद्विक में भी बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

गाथार्थ—पूर्वोक्त ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियों को कम करके शेष रही प्रकृतियों में तीर्थंकर नामपंचक के मिलाने से औदारिकमिश्र काय योग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियों का तथा सयोगि केवली गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय का बन्ध होता है। कार्मण काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु के बिना और सब प्रकृतियों का बन्ध औदारिकमिश्र काययोग के समान ही है और आहारकद्विक में गुणस्थानों में बताये बन्ध के समान बन्ध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—पूर्व गाथा और इस गाथा से मिलाकर औदारिकमिश्र काययोग के पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें गुणस्थान के बंधस्वामित्व का विचार किया गया है। दूसरे गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया गया है, उनमें से अनन्तानुबन्धी चतुष्क से लेकर तिर्यंचद्विक पर्यन्त २४ प्रकृतियों को[1] कम करने से ७० प्रकृतियाँ शेष

---

१ तृतीय कर्मग्रंथ, गा० ३ के अनुसार

रहती हैं, और उनमें जिनपंचक—तीर्थंकर नामकर्म, देवद्विक और वैक्रियद्विक को मिलाने से ७५ प्रकृतियों का वन्ध चौथे गुणस्थान में होता है।

शंका—चौथे गुणस्थान के समय औदारिकमिश्र काययोग में जिन ७५ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व कहा है, उनमें मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन; इन पांच प्रकृतियों का समावेश है। इस पर श्री जीवविजय जी ने अपने टवे में शंका उठाई है कि चौथे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोगी उक्त पांच प्रकृतियों को वाँध नहीं सकता है। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य के सिवाय दूसरों में यह योग संभव नहीं है और तिर्यंच और मनुष्य इस गुणस्थान में उक्त पांच प्रकृतियों को वाँध नहीं सकते हैं, अतएव तिर्यंचगति और मनुष्यगति में चौथे गुणस्थान के समय क्रम से जो ७० और ७१ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व कहा गया है। उसमें उक्त पाँच प्रकृतियाँ नहीं आती हैं।

इसका समाधान श्री जयसोमसूरि ने अपने टवे में किया है कि गाथागत 'अणचउवीसाइ' इस पद का अर्थ 'अनन्तानुवन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ' यह नहीं करना चाहिए, किन्तु 'आइ' शब्द से और भी पांच प्रकृतियाँ लेकर अनन्तानुवन्धी आदि २४ तथा मनुष्यद्विक आदि पाँच कुल २९ प्रकृतियाँ यह अर्थ करना चाहिये। ऐसा अर्थ करने से उक्त सन्देह नहीं रहता। क्योंकि ९४ में से २९ घटाने से शेष रही ६५ प्रकृतियों में जिनपंचक मिलाने से ७० प्रकृतियाँ होती हैं, जिनका वन्धस्वामित्व उस योग में उक्त गुणस्थान के समय किसी तरह विरुद्ध नहीं है। यह समाधान प्रामाणिक जान पड़ता है।

दूसरी वात यह है कि मूल गाथा में ७५ संख्या का वोधक कोई पद नहीं है। श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती भी दूसरे गुणस्थान में २९ प्रकृतियों का विच्छेद मानते हैं—

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदा चउरो।

—गो० कर्मकाण्ड,

यद्यपि टीका[1] में ७५ प्रकृतियों के वन्धस्वामित्व का निर्देश स्पष्ट किया है—'प्रागुक्ता चतुर्नवतिरनन्तानुवन्ध्यादिचतुर्विंशति-प्रकृतीर्विना जिननामादिप्रकृतिपंचकयुता च पंचसप्ततिस्तामौदा-रिकमिश्रकाययोगी सम्यक्त्वे वध्नाति' तथा वन्धस्वामित्व नामक प्राचीन तीसरे कर्मग्रंथ (गाथा २८-२९) में भी ७५ प्रकृतियों के ही वन्ध का विचार किया गया है। इसीप्रकार प्राचीन वन्धस्वामित्व की टीका में भी श्री गोविन्दाचार्य ने भी इस विषय में किसी प्रकार का शंका-समाधान नहीं किया है। इससे जान पड़ता है कि इस विषय को यों ही विना विशेष विचार किये परम्परा से मूल और टीका में चला आया है। इस ओर कर्मग्रंथकारों को विचार करना चाहिए तवतक श्री जयसोमसूरि के समाधान को महत्त्व देने में कोई हानि नहीं है।

औदारिकमिश्र काययोग के स्वामी मनुष्य और तिर्यंच हैं और चौथे गुणस्थान में उनको क्रमशः ७१ और ७० प्रकृतियों का वंध कहा है। तथापि औदारिकमिश्र काययोग में चौथे गुणस्थान के समय ७१ प्रकृतियों का वंध न मानकर ७० प्रकृतियों के वंध को मानने का समर्थन इसलिए किया जाता है कि यह योग अपर्याप्त अवस्था में होता है और अपर्याप्त अवस्था में मनुष्य अथवा तिर्यंच देवायु का वंध नहीं कर सकते हैं। क्योंकि तिर्यंच तथा मनुष्य की वंधयोग्य प्रकृतियों में देवायु परिगणित है। परन्तु औदारिकमिश्र काययोग की वंधयोग्य प्रकृतियों में से उसको निकाल दिया है।

तेरहवें गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग में एक साता-वेदनीय प्रकृति का वंध होता है।

औदारिकमिश्र काययोग में उक्त वंधस्वामित्व का कथन कर्म-ग्रन्थ के मतानुसार किया गया है। लेकिन सिद्धान्त के मतानुसार

---

१ उक्त टीका मूलकर्त्ता श्री देवेन्द्रसूरि की नहीं है।

इस योग में और भी दो (पांचवां, छठा) गुणस्थान माने जाते हैं। इस सम्वन्ध में सिद्धान्त का मत है कि वैक्रियलब्धि से वैक्रिय शरीर का प्रारम्भ करने के समय अर्थात् पांचवें, छठे गुणस्थान में और आहारकलब्धि से आहारक शरीर की रचना के समय अर्थात् छठे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग होता है।

इस मत की सूचना चौथे कर्मग्रन्थ की गाथा ४९ में की गई है—

सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥

इसकी स्वोपज्ञ टीका में ग्रन्थकार ने स्पष्ट किया है—औदारिक शरीरवाला वैक्रियलब्धि धारक मनुष्य, पंचेन्द्रिय तिर्यंच या वादर पर्याप्त वायुकाय जिस समय वैक्रिय शरीर रचता है, उस समय वह औदारिक शरीर में रहता हुआ अपने प्रदेशों को फैलाकर और वैक्रिय शरीर-योग्य पुद्‌गलों को लेकर जव तक वैक्रिय शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नहीं करता तव तक उसके औदारिक काययोग की वैक्रियशरीर के साथ मिश्रता है, परन्तु व्यवहार औदारिक को लेकर औदारिक-मिश्रता का करना चाहिए, क्योंकि उसी की प्रधानता है। इसी प्रकार आहारक शरीर करने के समय भी उसके साथ औदारिक काययोग की मिश्रता को जान लेना चाहिए।[1]

सिद्धान्त के उक्त कथन का आशय यह है कि वैक्रिय और आहारक का प्रारम्भ काल में औदारिक के साथ मिश्रण होने से औदारिकमिश्र कहा है। वैक्रियलब्धि, आहारकलब्धि सम्पन्न जव उक्त शरीर करता है तव औदारिक शरीर योग में वर्तमान होता है। जव तक वैक्रिय शरीर या आहारक शरीर में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न कर ले तव तक मिश्रता होती है। परन्तु औदारिक की मुख्यता होने से व्यपदेश औदारिकमिश्र का होता है। अर्थात् वैक्रिय और आहारक करते समय तो औदारिकमिश्र यह कहा जाता

---

१. प्रज्ञापना. पद १६ पत्र, ३१९-१ (चतुर्थ कर्मग्रन्थ स्वोपज्ञ टीका पर उद्‌धृत)

है और परित्याग काल में अनुक्रम से वैक्रियमिश्र और आहारक मिश्र यह व्यपदेश होता है। लेकिन कर्मग्रन्थकार मानते हैं कि किसी भी शरीर द्वारा काययोग का व्यापार हो परन्तु औदारिक शरीर जन्मसिद्ध है और वैक्रिय व आहारक लब्धिजन्य हैं अतः लब्धिजन्य शरीर की प्रधानता मानकर प्रारंभ और परित्याग के समय वैक्रियमिश्र और आहारकमिश्र व्यवहार करना चाहिए, न कि औदारिकमिश्र।

कर्मग्रन्थकारों की उक्त दृष्टि होना चाहिए, ऐसा प्रतीत होता है। औदारिकमिश्र काययोग में चार गुणस्थान मानने वाले कर्मग्रन्थ के विद्वानों का तात्पर्य इतना ही जान पड़ता है कि कार्मण शरीर और औदारिक शरीर दोनों के सहयोग से होने वाले योग को औदारिकमिश्र काययोग कहना चाहिए जो पहले, दूसरे, चौथे और तेरहवें इन चार गुणस्थानों में ही पाया जा सकता है। किन्तु सैद्धान्तिकों का आशय यह है कि जिस प्रकार कार्मणशरीर को लेकर औदारिक मिश्रता मानी जाती है, उसी प्रकार लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर की मिश्रता मानकर औदारिकमिश्र काययोग मानना चाहिए।

सिद्धान्त का उक्त दृष्टिकोण भी ग्रहण करने योग्य है और उस दृष्टि से औदारिकमिश्र काययोग में पांचवां, छठा यह दो गुणस्थान माने जा सकते हैं। किन्तु यहाँ बंधस्वामित्व कर्मग्रन्थों के अनुसार बतलाया जा रहा है अतः पांचवें, छठे गुणस्थान सम्बन्धी बंधस्वामित्व का विचार नहीं किया है।

औदारिकमिश्र काययोग के बंधस्वामित्व का कथन करने के बाद अब कार्मण काययोग के बन्धस्वामित्व को बतलाते हैं।

कार्मण काययोग भवान्तर के लिए जाते हुए अन्तराल गति के समय और जन्म लेने के प्रथम समय में होता है। कार्मण काययोग वाले जीवों के—पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवां—ये चार गुणस्थान होते हैं। इनमें से तेरहवाँ गुणस्थान केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में केवली भगवान को होता है और

ष तीन गुणस्थान अन्य जीवों के अन्तराल गति के समय तथा जन्म प्रथम समय में होते हैं।

इस कार्मण काययोग मार्गणा में सामान्य से तथा गुणस्थानों के मय औदारिकमिश्र काययोग के समान वन्धस्वामित्व समझना ाहिए। किन्तु इतनी विशेषता है कि इसमें तिर्यंचायु और मनु-ायु का भी वन्ध नहीं हो सकता है। अर्थात् दूसरे कर्मग्रन्थ के न्धाधिकार में जो वन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ वतलाई हैं, उनमें से ौदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में आहारक शरीर, आहारक अंगो-ांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी और नरकायु इन ६ प्रकृतियों े कम करने से ११४ प्रकृतियों का वन्ध वतलाया है। किंतु कार्मण ाययोग में उक्त छह प्रकृतियों के साथ तिर्यंचायु और मनुष्यायु को और कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

मिथ्यात्व गुणस्थान में उक्त ११२ प्रकृतियों में से औदारिकमिश्र काययोग की तरह तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पाँच प्रकृतियों के विना १०७ तथा इन १०७ प्रकृतियों में से दूसरे गुणस्थान में सूक्ष्मत्रिक आदि १३ प्रकृतियों को कम करने से ९४ एवं इन ९४ प्रकृतियों में से अनन्तानुवन्धी क्रोध आदि २४ प्रकृतियों को कम करने तथा तीर्थङ्कर नामकर्म आदि पाँच प्रकृतियों को जोड़ने से चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतियों का वन्ध होता है और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ एक सातावेदनीय कर्म प्रकृति का वन्ध होता है।

यद्यपि कार्मण काययोग में वंधस्वामित्व औदारिकमिश्र काय-योग के समान कहा गया है और चौथे गुणस्थान में औदारिकमिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों के वंध को लेकर शंका उठाकर ७० प्रकृतियों के वंध का समर्थन किया गया है। लेकिन कार्मण काय-योग में चतुर्थ गुणस्थान के समय उक्त शंका करने की आवश्यकता नहीं है, क्योंकि औदारिकमिश्र काययोग सिर्फ मनुष्यों और तिर्यंचों के ही होता है, किन्तु कार्मण काययोग के अधिकारी मनुष्य तिर्यंचों के अतिरिक्त देव और नारक भी हैं, जो

आदि पाँच प्रकृतियों को बाँधते हैं। इसी से कार्मण काययोग के चौथे गुणस्थान में उक्त पांच प्रकृतियों को भी ग्रहण किया गया है।

आहारक काययोगद्विक, अर्थात आहारक काययोग और आहारकमिश्र काययोग—ये दोनों छठे गुणस्थान में पाये जाते हैं। अतः छठे गुणस्थान के समान इन दोनों योग मार्गणाओं में ६३ प्रकृतियों का बंध होता है।

आहारक काययोग में प्रमत्त और अप्रमत्त विरत ये दो गुणस्थान होते हैं। जब चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमादयुक्त होता है, तब छठा गुणस्थान होता है। उस समय आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है। अर्थात् आहारक मिश्र और आहारक इन दो योगों में छठा गुणस्थान होता है, किन्तु बाद में विशुद्धि की शक्ति से सातवें गुणस्थान में आता है, तब आहारक योग ही होता है। अर्थात् आहारक योग में छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान तथा आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान होता है। तब छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बंध करता है। उक्त प्रकृतियों में शोक, अरति, अस्थिरद्विक, अयशःकीर्ति और असाता वेदनीय इन छह प्रकृतियों को कम करने पर सातवें में ५७ प्रकृतियों का और देवायु का बंध न करे तो ५६ प्रकृतियों का बंध करता है। पंचसंग्रह सप्ततिका की गाथा १४६ में बताया गया है कि आहारक योग और आहारकमिश्र काययोग वाले अनुक्रम से ५७ और ६३ प्रकृतियों का बंध करते हैं। यानी आहारक काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें गुणस्थान में ५७ प्रकृतियों का बंध करता है और आहारकमिश्र काययोग वाला छठे गुणस्थान में ६३ प्रकृतियों का बंध करता है।

जैसा इस कर्मग्रंथ में माना है, उसी प्रकार प्राचीन बंधस्वामित्व

में आहारक काययोगद्विक में छठ गुणस्थान के समान वंधस्वामित्व माना है; यथा—

'तेवट्ठाहारदुगे जहा पमत्तस्स'

—प्राचीन वंधस्वामित्व, गा० ३२

किन्तु नेमिचन्द्राचार्य अपने ग्रंथ गोम्मटसार कर्मकाण्ड में यद्यपि आहारक काययोग में छठे गुणस्थान के समान ६३ प्रकृतियों का वंध मानते हैं, लेकिन आहारकमिश्र काययोग में देवायु का वंध नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार ६२ प्रकृतियों का बंध होता है—

छट्ठगुणंवाहारे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ।

—गो० कर्मकांड गा० ११८

अर्थात् आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की तरह वंध-स्वामित्व है, परन्तु आहारकमिश्र काययोग में देवायु का वंध नहीं होता है।

सारांश यह है कि कर्मग्रन्थ के अनुसार औदारिकमिश्र काय-योग में चौथे गुणस्थान के समय ७५ प्रकृतियों का वंध होता है, जवकि सिद्धान्त के अनुसार ७० प्रकृतियों का वंध माना जाता है तथा सिद्धान्त में वैक्रियलब्धि और आहारकलब्धि का प्रयोग करते समय भी औदारिकमिश्र काययोग माना है, लेकिन यहाँ उसकी विवक्षा नहीं की गई है। क्योंकि कर्मग्रन्थकार वैसा मानते नहीं हैं, इसलिए पांचवें और छठे गुणस्थान का वंध नहीं कहा है।

सिद्धान्त में जो ७० प्रकृतियों का वंध कहा गया है, उसमें गाथा में आये 'अणचउवीसाइ' पद में आदि शब्द से अन्य पाँच प्रकृतियों का ग्रहण किया जाय तो कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त के मत में कोई शंका नहीं रहती है। इसप्रकार दूसरे गुणस्थान की वंधयोग्य ९४ में से अनन्तानुवंधी चतुष्क आदि २४ और अन्य ५ प्रकृतियों को कम करने से और तीर्थंकर नामकर्मपंचक प्रकृतियों के मिलाने से ७० प्रकृतियों का वंध होना युक्तियुक्त हो सकता है।

कार्मण काययोग में भी औदारिक मिश्रयोग के समान वंध समझना चाहिए, किन्तु तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृतियों को कम करने से सामान्य से ११२ प्रकृतियों का बंध मानना चाहिए और गुणस्थानों की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ सातावेदनीय का वन्ध होता है।

आहारक काययोगद्विक में गुणस्थान के समान ही वन्ध समझना चाहिये। अर्थात् छठे गुणस्थान में जैसे ६३ प्रकृतियों का वन्ध होता है, वैसे ही इस योग में समझना चाहिए। मतान्तर से ६३, ५७ प्रकृतियों का भी वन्ध कहा गया है। किन्हीं आचार्यों ने ६२ प्रकृतियों का वन्ध आहारकमिश्र काययोग में माना है।

इस प्रकार औदारिक, कार्मण और आहारक काययोग में वंधस्वामित्व बतलाने के वाद अव आगे की गाथा में वैक्रिय काययोगद्विक, वेद तथा कषाय मार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदों में वन्धस्वामित्व वतलाते हैं—

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

गाथार्थ—वैक्रिय काययोग में देवगति के समान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु के सिवाय अन्य सव प्रकृतियों का वन्ध वैक्रिय काययोग के समान तथा वेद और कषाय मार्गणा में क्रमशः वेद मार्गणा में आदि के नौ, अनन्तानुवन्धी कषाय में आदि के दो, द्वितीय अप्रत्याख्यानावरण कषाय में आदि के चार, तृतीय प्रत्याख्यानावरण कषाय में आदि के पाँच गुणस्थान की तरह वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

विशेषार्थ—गाथा में वैक्रिय काययोग और वैक्रियमिश्र काययोग तथा वेद और कषाय मार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के वन्धस्वामित्व को वतलाया है।

वैक्रिय काययोग के अधिकारी देव तथा नारक होते हैं। क्योंकि देव और नारकों के उपपातजन्म होता है।[1] उपपातजन्म वालों को वैक्रिय शरीर होता है।[2] इससे इसमें गुणस्थान देवगति के समान ही माने गए हैं और इसका वन्धस्वामित्व भी देवगति के समान हो, अर्थात् सामान्य से १०४, पहले गुणस्थान में १०३, दूसरे में ९६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है।

वैक्रियमिश्र काययोग के स्वामी भी वैक्रिय काययोग की तरह देव और नारक होते हैं। अतः इस योग में भी देवगति के समान वन्ध होना चाहिए था। लेकिन इतनी विशेषता समझना चाहिए कि इस योग में आयु का वन्ध असंभव है। क्योंकि यह योग अपर्याप्त अवस्था में ही देवों तथा नारकों के होता है। देव तथा नारक पर्याप्त अवस्था में, अर्थात् छह महीने प्रमाण आयु शेष रहने पर ही परभव सम्वन्धी आयु का वन्ध करते हैं। इसलिये वैक्रियमिश्र काय-योग में तिर्यचायु और मनुष्यायु के सिवाय वाकी की अन्य सब प्रकृतियों का वंध वैक्रिय काययोग (देवगति के समान) समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग की अपेक्षा वैक्रियमिश्र काययोग में एक और विशेषता समझनी चाहिए कि वैक्रिय काययोग में पहले के चार गुणस्थान होते हैं, जवकि वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान ही होते हैं। क्योंकि यह योग अप-र्याप्त अवस्था में होता है। इससे इसमें अधिक गुणस्थान होना

---

१. नारकदेवानामुपपातः। —तत्वार्थ सूत्र २।३५
उत्पत्ति स्थान में स्थित वैक्रिय पुद्गलों को पहले-पहले शरीर रूप में परिणत करना उपपात जन्म है

२. वैक्रियमौपपातिकम्। —तत्त्वार्थ सूत्र २।४७

असंभव है ।[1] प्राचीन वन्धस्वामित्व में भो इसोप्रकार माना है

मिच्छे सासाणे वा अविरयसम्मम्मि अहव गहियम्मि ।
जंति जिया परलोए सेसेक्कारसगुणे मोत्तु ॥

अर्थात् जीव मरकर परलोक में जाते हैं, तव वे पहले, दूस
चौथे गुणस्थान को ग्रहण किये हुए होते हैं, परन्तु इन तीनों के
शेष ग्यारह गुणस्थानों को ग्रहण कर परलोक के लिए कोई
गमन नहीं करता। अतएव इसमें सामान्य रूप से १०२, पहले
स्थान में १०१, दूसरे में ९४ और चौथे गुणस्थान में ७९ प्रकृ
का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

वैक्रिय काययोग लब्धि से भी पैदा होता है ।[2] जैसा कि पाँ
गुणस्थान में वर्तमान अम्बड़ परिव्राजक[3] आदि ने तथा छठे गुणस
में वर्तमान विष्णुकुमार आदि मुनि ने वैक्रिय लब्धि के वल से वै
शरीर किया था। यद्यपि इससे वैक्रिय काययोग और वैक्रियमि
काययोग का पाँचवें और छठें गुणस्थान से होना संभव है, तथा
वैक्रिय काययोग वाले जीवों के पहले से लेकर चौथे तक चार गु
स्थान तथा वैक्रियमिश्र काययोग में पहला, दूसरा और चौथा —ये ती
गुणस्थान वतलाये गये हैं, उसका कारण यह जान पड़ता है कि यह
देव और नारकों के स्वाभाविक भवप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा
है। इसलिए उनके पहले के चार गुणस्थान माने गये हैं। लब्धि
प्रत्यय वैक्रिय काययोग की विवक्षा से मनुष्य, तिर्यंच की अपेक्षा
अधिक गुणस्थानों में उसकी विवक्षा नहीं है। अर्थात् केवल
प्रयत्य वैक्रिय शरीर को लेकर ही वैक्रिय काययोग तथा वैक्रिय
काययोग में क्रम से उक्त चार और तीन गुणस्थान वतलाये हैं।

---

१ वेगुव्वं पज्जत्ते इदरे खलु होदि तस्स मिस्संतु ।
सुरणिरयचउट्ठाणे मिस्से णहि मिस्स जोगो दु ॥

—गो० जीवकांड ६

२ लब्धिप्रत्ययं च ।

—तत्त्वार्थसूत्र २

३ अम्बड़ परिव्राजक का वर्णन औपपातिक सूत्र में देखिये ।

योगमार्गणा के बंधस्वामित्व का कथन करने के बाद अब वेद और कषायमार्गणा के अनन्तानुवन्धी, अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय भेदों का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

वेद के तीन भेद हैं—पुरुषवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद। इन तीनों प्रकार के वेदों का उदय नौवें गुणस्थान तक ही होता है।[1] अर्थात् वेद का उदय नौवें गुणस्थान पर्यन्त ही होता है, इसलिए वेद का बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार की तरह नौ गुणस्थानों जैसा जानना। अर्थात् जैसे बन्धाधिकार में सामान्य से १२०, पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५९-५८, आठवें में ५८, ५६ तथा २६ और नौवें में २२ प्रकृतियों का बन्ध बतलाया है, उसीप्रकार वेदमार्गणा वाले जीवों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनन्तानुवन्धी कषाय का उदय पहले, दूसरे—दो गुणस्थानों में ही होता है। इससे इस कषाय में उक्त दो ही गुणस्थान माने जाते हैं। उक्त दो गुणस्थानों के समय न तो सम्यक्त्व होता है और न चारित्र। अतः तीर्थङ्कर नामकर्म (जिसका बन्ध सम्यक्त्व से ही होता है) और आहारकद्विक (जिनका बन्ध चारित्र से ही होता है), ये तीन प्रकृतियाँ अनन्तानुवन्धी कषाय वालों के सामान्य वन्ध में वर्जित हैं। अतएव अनन्तानुवन्धी कषाय वाले सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं।

अप्रत्याख्यानावरण क्रोधादि कषायों का उदय पहले चार गुणस्थान पर्यंत होता है। अतः इनमें पहले चार गुणस्थान होते हैं। इन कषायों के समय सम्यक्त्व का संभव होने से तीर्थंकर नाम का बंध हो सकता है। लेकिन चारित्र का अभाव होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता है। अतएव इन कषायों में सामान्य से ११८ और

---

१ अणियट्टिस्स य पढमो भागोत्ति जिणेहिं णिद्दिट्ठं।

—गो०

पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे ७७ प्रकृतियों का बन्ध समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषायों का उदय पाँचवें गुणस्थान पर्य होता है। अतः इनमें पहले से लेकर पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त प गुणस्थान माने जाते हैं। यद्यपि इन कषायों के समय सर्वविर चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं हो सकता तथापि सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध हो सकता इसलिए सामान्य रूप से ११८ और पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७ और पांचवें में ६७ प्रकृतियों बन्ध जानना चाहिए।

कषायमार्गणा में यदि अनन्तानुबन्धी आदि संज्वलन पर्यन्त अपेक्षा से प्रत्येक का अलग-अलग बन्धस्वामित्व का कथन न कर क्रो मान, माया और लोभ–इन सामान्य भेदों में गुणस्थान का कथन कि जाये तो क्रोध, मान, माया—ये तीन कषाय नौवें गुणस्था क्रमशः दूसरे, तीसरे और चौथे भाग पर्यन्त तथा लोभ कषाय द गुणस्थान तक रहता है। इस अपेक्षा से यदि गुणस्थान माने तो कषायमार्गणा में पहले से लेकर दसवें गुणस्थान पर्यन्त गुणस्थान होते हैं और उनका वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के अनु समझना चाहिये। लेकिन ग्रन्थकार ने यहाँ कषाय मार्गणा में अन नुवन्धी आदि की अपेक्षा से उनका गुणस्थानों में वन्धस्वामित्व कथन किया है।

सारांश यह है कि वैक्रिय काययोग में वन्धस्वामित्व देवगति समान, अर्थात् सामान्य से १०४ एवं गुणस्थानों में पहले में १ दूसरे में ६६, तीसरे में ७० और चौथे में ७२ प्रकृतियों का है वैक्रियमिश्र काययोग में तिर्यंचायु और मनुष्यायु इन दो प्रकृति का वन्ध नहीं होने से इनके विना शेष प्रकृतियों का वन्ध वै काययोग के समान समझना चाहिए। जिसका अर्थ यह है कि वै मिश्रयोग में सामान्य से वन्धयोग्य १०२ प्रकृतियां हैं तथा यह

अपर्याप्त अवस्था में होने से तीसरा गुणस्थान नहीं होता है। अतः पहले गुणस्थान में १०१, दूसरे में ९६ और चौथे में ७२ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

वेद का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है। अतः बंधाधिकार में कहे गये अनुसार ही सामान्य से और नौवें गुणस्थान तक बताये गये प्रकृतियों के बंध के अनुसार समझना चाहिए।

कषायमार्गणा में अनन्तानुबंधी कषाय का उदय पहले और दूसरे गुणस्थान तक होता है, अतः गुणस्थानों की अपेक्षा बंध तो बंधाधिकार में बताये गये बंध के समान ही होता है, लेकिन सामान्य से १२० की बजाय ११७ का बंध होता है, क्योंकि इस कषाय वाले को सम्यक्त्व और चारित्र नहीं होने से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का बंध नहीं होता है।

अप्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय चौथे गुणस्थान तक होता है और इस कषाय के समय सम्यक्त्व संभव होने से तीर्थंकर नामकर्म का बंध हो सकता है। अतः सामान्य से बंधयोग्य ११८ प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थानों में बंधाधिकार के समान ११७, १०१, ७४ और ७७ प्रकृतियाँ समझना चाहिए।

प्रत्याख्यानावरण कषाय का उदय पाँचवें गुणस्थान पर्यन्त होता है। अतः इसमें पहले से लेकर पाँचवें तक पांच गुणस्थान होते हैं। इस कषाय के रहने पर सम्यक्त्व हो सकता है, लेकिन सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बंध नहीं होने से सामान्य से ११८ प्रकृतियों का वन्ध होता है और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ और ६७ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व समझना।

अब आगे की गाथा में कषायमार्गणा की शेष रही संज्वलन कषाय तथा संयम, ज्ञान और दर्शन मार्गणा के वन्धस्वामित्व का कथन करते हैं—

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे।
बारस अचक्खुचक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचऊ ॥१७॥

गाथार्थ—संज्वलनत्रिक (संज्वलन क्रोध, मान, माया) में गुणस्थान और चौथे संज्वलन लोभ में दस गुणस्थान होते तथा अविरति में चार, अज्ञानत्रिक (मति अज्ञान, श्रुत अज्ञा विभंग ज्ञान) में दो या तीन और अचक्षुदर्शन, चक्षुदर्शन में आ के वारह और यथाख्यात चारित्र में अन्त के चार गुणस्थ होते हैं। अतः उक्त मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व वन्धाधिक में वताये गये अनुसार सामान्य से और गुणस्थानों में समझ चाहिए।

विशेषार्थ—कषायमार्गणा के अन्तिम भेद संज्वलन कषाय के क्रोध, मान, माया, लोभ इन चार भेदों में से क्रोध, मान और माया में नौ और लोभ में दस गुणस्थान होते हैं। अतः इन चारों कषायें का बंधस्वामित्व सामान्य रूप से और विशेष रूप से गुणस्थानों के समान ही है। अर्थात् संज्वलन क्रोध, मान, माया का उदय नौवें गुणस्थान तक होता है, अतः उनका बन्धस्वामित्व जैसा वन्धाधिकार में गुणस्थानों की अपेक्षा वतलाया गया है, उसीप्रकार समझना चाहिए। यानी सामान्य से १२० और गुणस्थानों में पहले से लेकर नौवें गुणस्थान तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, ६३, ५६, ५ और २२ प्रकृतियों का समझना चाहिए।

संज्वलन लोभ में एक से लेकर दस गुणस्थान होते हैं, अतः इसमें नौवें गुणस्थान तक तो पूर्वोक्त संज्वलनत्रिक के अनुसार वन्ध-स्वामित्व समझना चाहिए और दसवें गुणस्थान में १७ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

संयममार्गणा में सामायिक आदि संयम के भेदों के साथ संयम-प्रतिपक्षी असंयम-अविरति को भी माना जाता है। अतः संयम-मार्गणा के भेदों के वन्धस्वामित्व को वतलाने के पहले असंयम-अविरति में वन्धस्वामित्व का कथन करते हैं। अविरति का मतलब

के सम्यक्त्व भी हो जाये किन्तु चारित्र का पालन नहीं हो सके।
: इसमें आदि के चार गुणस्थान होते हैं और चौथे गुणस्थान में
यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म का बन्ध संभव है, परन्तु
हारकद्विक का बन्ध संयमसापेक्ष होने से बन्ध नहीं होता है।
लिए अविरति में सामान्य रूप से आहारकद्विक के सिवाय ११८,
ले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे गुण-
ान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

ज्ञानमार्गणा में ज्ञान और अज्ञान—दोनों को माना जाता है।
में मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान ये ज्ञान के पाँच
हैं। इनमें मति, श्रुत और अवधिज्ञान विपरीत भी होते हैं।[1]
ति अज्ञान के मति-अज्ञान, श्रुत-अज्ञान और अवधि-अज्ञान—
तीन भेद होते हैं। ज्ञानमार्गणा के इन आठ भेदों में से यहाँ
ज्ञानत्रिक का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

अज्ञानत्रिक में आदि के दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इनके
मान्य बन्ध में से तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक ये तीन
कृतियाँ कम कर देना चाहिए। क्योंकि अज्ञान का कारण मिथ्यात्व
और इन अज्ञानत्रिक में मिथ्यात्व का सद्भाव रहता है, जिससे
मान्य से तथा पहले गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे
७४ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

मिश्र ज्ञान में ज्ञानत्व की मात्रा अधिक होती है और दृष्टि की अशु
की कमी के कारण अज्ञान की मात्रा कम होती है, तब इस प्रक
के मिश्र ज्ञान से युक्त जीवों की गिनती ज्ञानी जीवों में भी की
सकती है, लेकिन वह है अज्ञान ही। इस दृष्टि से उस समय प
और दूसरे दो गुणस्थानों में जीव को ही अज्ञानी समझना चाहिए

परन्तु जब दृष्टि में अशुद्धि की अधिकता के कारण मिश्र
में अज्ञान की मात्रा अधिक होती है और शुद्धि की कमी के का
ज्ञान की मात्रा कम तब उस मिश्र ज्ञान को अज्ञान मानकर
ज्ञानी जीवों की गिनती अज्ञानी जीवों में की जाती है। अतएव
समय पहले, दूसरे और तीसरे—इन तीन गुणस्थानों सम्बन्धी
को अज्ञानी समझना चाहिए।

उक्त दोनों स्थितियों का कारण यह है कि जो जीव मिथ्य
गुणस्थान से तीसरे गुणस्थान में आता है, तब मिश्रदृष्टि में मि
त्वांश अधिक होने से अशुद्धि विशेष होती है और जब सम्यक्त्व
कर तीसरे गुणस्थान में आता है, तब मिश्रदृष्टि में सम्यक
अधिक होने के शुद्धि विशेष रहती है। इसीलिए अज्ञानत्रिक
या तीन गुणस्थान माने जाते हैं।

यहाँ अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान मानने वि
मतान्तर का दिग्दर्शन किया गया है। कर्मग्रन्थकार सास्वाद
अज्ञान ही मानने हैं। पहले गुणस्थान में मिथ्यात्व मोहनी
उदय होने से अज्ञान ही है और बाकी रहा मिश्र, वहाँ मोहनीय
का उदय होता है। वहाँ यथास्थित तत्व का बोध नहीं
कितने ही आचार्य अज्ञान रूप ही मानते हैं। क्योंकि पंचसं
कहा है मिश्र में ज्ञान से मिश्रित अज्ञान ही होते हैं, शुद्ध ज्ञान
होते हैं। यहाँ शुद्ध सम्यक्त्व की अपेक्षा से ही ज्ञान माना गय
यदि अशुद्ध सम्यक्त्व वाले को ज्ञान मानें तो सास्वादन को भी
मानना पड़ेगा। किन्तु कर्मग्रन्थकारों को यह इष्ट नहीं है, क
कर्मग्रन्थ में सास्वादन को अज्ञान होता है, ऐसा कहा है। इस

तीन गुणस्थान होते हैं। जबकि कितनेक आचार्य मिश्र मोहनीय द्गलों में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्गल अधिक हों तो अज्ञान अधिक ौर ज्ञान अल्प तथा सम्यक्त्व मोहनीय के पुद्गल अधिक हों तो ान अधिक और अज्ञान अल्प ऐसा मानते हैं और दोनों रीति से ान का लेश-अंश मिश्र गुणस्थान में मानते हैं। इसलिए उस अपेक्षा े अज्ञानत्रिक में प्रथम दो गुणस्थान ही होते हैं। (यह कथन जिन-वल्लभीय षडशीतिका की टीका में किया गया है।) इस प्रकार से दो अथवा तीन गुणस्थान कर्मग्रन्थकारों के मतानुसार होते हैं।

ज्ञानमार्गणा के अज्ञानत्रिक का वन्धस्वामित्व यहाँ वतलाया गया है। शेष मतिज्ञानादि पाँच भेदों का वन्धस्वामित्व आगे वत-लाया जायगा। अव दर्शन मार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षु-दर्शन का वन्धस्वामित्व वतलाते हैं।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इन दो दर्शनों में पहले से लेकर वारह गुणस्थान होते हैं। क्योंकि ये दोनों क्षायोपशमिक भाव हैं और क्षायोपशमिक भाव वारह गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। अतः इनका वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से तथा प्रत्येक गुणस्थान में वन्धा-धिकार के समान है। अर्थात् वन्धाधिकार में जैसे सामान्य से १२० ौर गुणस्थानों में पहले में ११७ आदि गुणस्थान के क्रम से लेकर ारहवें गुणस्थान पर्यन्त वन्ध वतलाया गया है, इसीप्रकार चक्षु-र्शन और अचक्षुदर्शन मार्गणा में वन्ध समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र अंतिम चार गुणस्थानवर्ती जीवों में होता । अतः ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक—ये चार गुण-थान होते हैं। चौदहवें गुणस्थान में तो योग का अभाव होने से न्ध होता ही नहीं है। किन्तु ग्यारहवें आदि तीन गुणस्थानों में न्ध के कारण योग का सद्भाव होता है। अतः योग के निमित्त से ँधने वाली सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का वन्ध होता है। सलिए इस चारित्र में सामान्य और विशेष रूप से एक प्रकृति का न्धस्वामित्व समझना चाहिए।

सारांश यह है कि कषायमार्गणा के चौथे भेद संज्वलन क्रोध मान, माया और लोभ में से क्रोध, मान, माया नौवें गुणस्थान तक रहती है। अतः इन तीनों के पहले से लेकर नौ गुणस्थान होते तथा लोभ दसवें गुणस्थान पर्यन्त रहता है। अतः इनका वन्धस्वा मित्व वन्धाधिकार में वताये गये सामान्य व गुणस्थानों के अनुसार समझना चाहिए।

संयममार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने के कारण तीर्थङ्कर नाम का वन्ध संभव है, परन्तु आहारकद्विक का वन्ध संयमसा होने से नहीं होता है। अतः अविरति में सामान्य से आहारक के सिवाय ११८ प्रकृतियों का तथा गुणस्थानों में पहले में ११७, में १०१, तीसरे में ७४ और चौथे में ७७ प्रकृतियों का होता है।

अज्ञानत्रिक में दो या तीन गुणस्थान होते हैं। इसलिए सामान्य वन्ध में से तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक इन प्रकृतियों को कम कर लेना चाहिए। अतः सामान्य से और गुणस्थान में ११७, दूसरे में १०१ और तीसरे में ७४ प्रकृतियं वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन इनमें पहले वारह गुणस्थान हैं और इनका वन्धस्वामित्व सामान्य से एवं गुणस्थान की अ गुणस्थानों के समान समझना चाहिए।

यथाख्यात चारित्र में ग्यारह से चौदह अंतिम चार गुण होते हैं और चौदहवें गुणस्थान में योग का अभाव होने से नहीं होता और शेष तीन—ग्यारह, वारह और तेरह इन तीन स्थानों में सिर्फ एक सातावेदनीय का वन्ध होता है।

इस प्रकार कषायमार्गणा के संज्वलनचतुष्क और स मार्गणा के अविरति और यथाख्यात चारित्र, ज्ञानमार्गणा के अ

त्रक, दर्शनमार्गणा के चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन में बन्धस्वामित्व
ा कथन करने के बाद आगे की गाथा में संयममार्गणा और ज्ञान-
ार्गणा के मतिज्ञान आदि भेदों में बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

गाथार्थ—मनःपर्याय ज्ञान में यत—प्रमत्तसंयत आदि अर्थात् छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान पर्यन्त सात तथा सामायिक और छेदोपस्थानीय चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि चार गुणस्थान एवं परिहारविशुद्धि चारित्र में प्रमत्तसंयत आदि दो गुणस्थान होते हैं। केवलद्विक में अंतिम दो गुणस्थान तथा मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक में अविरति सम्यग्दृष्टि से लेकर नौ गुणस्थान होते हैं।

विशेषार्थ—इस गाथा में ज्ञानमार्गणा के भेदों—मनःपर्यायज्ञान, मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, केवलज्ञान, संयममार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थानीय और परिहारविशुद्धि चारित्र, दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन में बन्धस्वामित्व का कथन किया गया है। इनका विशद अर्थ गाथा में बताये गये क्रम के अनुसार किया जाता है।

मनःपर्यायज्ञान में छठे गुणस्थान—प्रमत्तसंयत से लेकर क्षीणकषाय पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं। यद्यपि मनःपर्यायज्ञान का आविर्भाव सातवें गुणस्थान में होता है, परन्तु इसकी प्राप्ति के बाद मुनि प्रमादवश छठे गुणस्थान को भी प्राप्त कर सकता है तथा इस ज्ञान के धारक मिथ्यात्व आदि पाँच गुणस्थानों में वर्तमान नहीं रहते हैं तथा यह क्षायोपशमिक होने से अंतिम गुणस्थान—तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान में नहीं रहता है, क्योंकि क्षायिक अवस्था में क्षायोपशमिक स्थिति रहना असंभव है। इसलिए मनःपर्या[illegible]
छठे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक माने जाते हैं। इसमें

द्विक का भी वन्ध संभव है । इसलिए इस ज्ञान में सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का तथा छठे से लेकर वारहवें गुणस्थान पर्यन्त प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान ही प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात् मनःपर्याय ज्ञानमार्गणा में सामान्य से ६५ प्रकृतियों का और छठे से लेकर वारहवें गुणस्थान तक छठे में ६३, सातवें में ५६।५८,आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१६। १८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, वारहवें में १ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे, सातवें, आठवें और नौवें इन चार गुणस्थानों में पाये जाते हैं। इन संयमों के समय आहारकद्विक का वन्ध होना भी संभव है। अतः सामान्य से ६५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों की अपेक्षा छठे आदि प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही वन्ध समझना चाहिए, अर्थात् छठे में ६३, सातवें में ५६।५८, आठवें से ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१६।१८ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

परिहारविशुद्धि संयमी सातवें गुणस्थान से आगे के गुणस्थानों को नहीं पा सकता है। अतः यह संयम सिर्फ छठे और सातवें गुणस्थान में ही होता है। इस संयम के समय यद्यपि आहारकद्विक का उदय नहीं होता। क्योंकि परिहारविशुद्धि संयमी को दस पूर्व का भी पूर्ण ज्ञान नहीं होता और आहारकद्विक का उदय चतुर्दशपूर्वधर के संभव है। किन्तु आहारकद्विक का वन्ध संभव है। इसलिए वन्ध-स्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान, अर्थात् छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

केवलद्विक अर्थात् केवलज्ञान और केवलदर्शन में तेरहवां और चौदहवां ये दो गुणस्थान होते हैं। लेकिन उक्त दो गुणस्थानों में से चौदहवें गुणस्थान में वन्ध के कारणों का अभाव हो जाने से किसी भी कर्मप्रकृति का वन्ध नहीं होता है, लेकिन तेरहवें गुणस्थान

में होता है, और वह वन्ध सिर्फ सातावेदनीय का होता है। इसलिए इन दोनों में सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा वन्धस्वामित्व एक ही प्रकृति का है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधि-दर्शन इन चार मार्गणाओं में पहले के तीन गुणस्थान तथा अंतिम दो गुणस्थान नहीं होते हैं। अर्थात् चौथे अविरत से लेकर वारहवें क्षीणकषाय गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। आदि के तीन गुण-स्थान न होने का कारण यह है कि ये चारों सम्यक्त्व के होने पर यथार्थ माने जाते हैं और आदि के तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होता है और अन्तिम दो गुणस्थान न होने का कारण यह है कि उनमें क्षायिक ज्ञान होता है, क्षायोपशमिक नहीं। इसलिए इन चारों में चौथे से लेकर वारहवें गुणस्थान तक कुल नौ गुणस्थान माने जाते हैं। इन चारों मार्गणाओं में भी आहारकद्विक का वंध संभव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे से लेकर वारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। अर्थात् चौथे गुणस्थान की वन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में आहारक शरीर और आहारक अंगोपांग—इन दो प्रकृतियों को और जोड़ने से सामान्य की अपेक्षा ७६ प्रकृतियों का वन्ध होता है और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३, सातवें में ५६।५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१६।१८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, वारहवें में १ प्रकृति का वन्ध समझना चाहिए।

सारांश यह है कि मनःपर्याय ज्ञानमार्गणा में छठे से लेकर वारहवें गुणस्थान पर्यन्त सात गुणस्थान होते हैं और इसमें आहारक-द्विक का वन्ध संभव होने से सामान्यतया ६५ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान छठे से लेकर वारहवें गुणस्थान तक प्रत्येक में वन्ध समझना चाहिए।

सामायिक और छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे से लेकर नौवें तक चार गुणस्थान पर्यन्त होते हैं। तथा इनमें आहारकद्विक का भी वन्ध संभव है, अतः इन दोनों में वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और छठे से लेकर नौवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान ही है।

परिहारविशुद्धि संयम वाले के छठा और सातवां ये दो गुणस्थान होते हैं। यद्यपि इस संयम के समय आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु वन्ध संभव है। अतः इसका वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से ६५ प्रकृतियों का और विशेषरूप से वन्धाधिकार के समान छठे गुणस्थान में ६३ और सातवें में ५६ या ५८ प्रकृतियों का होता है।

केवलद्विक - केवलज्ञान और केवलदर्शन—में अन्तिम दो गुणस्थान—तेरहवें और चौदहवें होते हैं। लेकिन उक्त दो गुणस्थानों में से चौदहवें गुणस्थान में वन्ध के कारणों का अभाव होने से वन्ध नहीं होता है और तेरहवें गुणस्थान में सिर्फ सातावेदनीय कर्म का वंध होता है। इसलिए इसका सामान्य और विशेष वन्ध एक सातावेदनीय प्रकृति का ही है।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिद्विक—अवधिज्ञान और अवधिदर्शन इन चार मार्गणाओं में पहले तीन गुणस्थानों में शुद्ध सम्यक्त्व नहीं होने से तथा अन्तिम दो गुणस्थान क्षायिकभाव वाले होने से और इन चारों के क्षायोपशमिक भाव वाले होने से चौथे से लेकर वारहवें गुणस्थान पर्यन्त नौ गुणस्थान होते हैं। इन चार मार्गणाओं में आहारकद्विक का वन्ध सम्भव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा चौथे से लेकर वारहवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इस प्रकार से ज्ञानमार्गणा के मति, श्रुत, अवधि, मनःपर्याय और केवलज्ञान तथा दर्शनमार्गणा के अवधिदर्शन और केवलदर्शन तथा संयममार्गणा के सामायिक, छेदोपस्थापनीय और परिहारविशुद्धि भे

में सामान्य और गुणस्थानों की अपेक्षा बन्धस्वामित्व ...
किया जा चुका है। अब आगे की गाथा में सम्यक्त्व ...
संयम मार्गणा के शेष भेदों और आहारक मार्गणा में बन्धस्वामित्व
बतलाते हैं—

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१६॥

गाथार्थ—उपशम सम्यक्त्व में आठ, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व में चार, क्षायिक सम्यक्त्व में ग्यारह, मिथ्यात्वत्रिक और देशचारित्र, सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-अपने नाम वाले एक-एक गुणस्थान होते हैं तथा आहारक मार्गणा में तेरह गुण-स्थान होते हैं और सामान्य से अपने-अपने गुणस्थान के समान बन्ध समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, वेदक (क्षायोपशमिक), क्षायिक, मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र तथा संयम मार्गणा के देशविरत, सूक्ष्मसंपराय एवं आहारक मार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाया गया है।

उपशमश्रेणि को प्राप्त हुए अथवा अनन्तानुबन्धी कषाय-चतुष्क और दर्शनमोहत्रिक को उपशमित करने वाले जीवों को उपशम सम्यक्त्व होता है। यह उपशम सम्यक्त्व अविरत सम्यक्त्व के सिवाय देशविरति, प्रमत्तसंयत—विरति या अप्रमत्तसंयत-विरति गुणस्थानों में तथा इसी प्रकार आठवें से लेकर ग्यारहवें तक चार गुणस्थानों में वर्तमान उपशम श्रेणि वाले जीवों को रहता है। इसी कारण इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक कुल आठ गुणस्थान कहे गये हैं।

इस सम्यक्त्व के समय आयु का बन्ध नहीं होता है। ...
गुणस्थान में देव और मनुष्यायु इन दोनों का ...
और पाँचवें आदि गुणस्थान में देवायु का ...

अतएव इस सम्यक्त्व में सामान्य रूप से ७५ प्रकृतियों का तथा चौथे गुणस्थान में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२, सातवें में ५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१६।१८, दसवें में १७ और ग्यारहवें गुणस्थान में १ प्रकृति का वन्धस्वामित्व वताया है।

वेदकसम्यक्त्व का दूसरा नाम क्षायोपशमिक सम्यक्त्व भी है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी उदय प्राप्त मिथ्यात्व का क्षय और अनुदय प्राप्त का उपशम करता है। इसीलिए इसे क्षायोपशमिक सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यक्त्व चौथे से सातवें तक चार गुणस्थानों में होता है। इसमें आहारकद्विक का वन्ध भी संभव है, अतः इसका वन्ध-स्वामित्व सामान्य से ७९ प्रकृतियों का और विशेष रूप में गुण-स्थानों की अपेक्षा चौथे गुणस्थान में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का है। उसके बाद श्रेणि का प्रारम्भ हो जाता है। इसलिए उपशम श्रेणि में उपशम सम्यक्त्व और क्षपक श्रेणि में क्षायिक सम्यक्त्व होता है।

औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में यह विशेषता है कि क्षायोशपमिक सम्यक्त्वी मिथ्यात्व मोहनीय के प्रदेशोदय का अनुभव करता है, और उपशम सम्यक्त्वी विपाकोदय तथा प्रदेशोदय का अनुभव नहीं करता है। क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व मोहनीय के पुद्‌गल होते हैं, इसीलिए उसे वेदक कहा जाता है। सारांश यह है कि औपशमिक सम्यक्त्व में मिथ्यात्व के दलिकों का विपाक और प्रदेश से भी वेदन नहीं होता है, किन्तु क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में प्रदेश की अपेक्षा वेदन होता है।

संसार के कारणभूत तीनों प्रकार के दर्शनमोहनीय कर्म के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। इस सम्यक्त्व में चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का वन्ध हो सकता है। इसलिये सामान्य रूप से इसका वन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान है। अर्थात् अविरति में ७७, देशविरति में

, प्रमत्तविरति में ६३, अप्रमत्तविरति में ५९ या ५८, अपूर्वकरण ५८।५६।२६, अनिवृत्तिकरण में २२।२१।२०।१९।१८, सूक्ष्मसंपराय १७ तथा उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि गुणस्थान में १-१ ;ति का वन्ध समझना चाहिये और अयोगि गुणस्थान अवन्धक ता है।

मिथ्यात्वत्रिक यानी मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्रदृष्टि, ये नों सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमें अपने-अपने नाम ला एक-एक गुणस्थान होता है। अर्थात् मिथ्यात्व में पहला थ्यात्व गुणस्थान, सास्वादन में दूसरा सास्वादन गुणस्थान ार मिश्र दृष्टि में तीसरा मिश्रदृष्टि गुणस्थान होता है। तएव इन तीनों का सामान्य व विशेष वन्धस्वामित्व इन-इन णस्थानों के वन्धस्वामित्व के समान ही समझना चाहिए। अर्थात् ामान्य और विशेष रूप से मिथ्यात्व में ११७, सास्वादन में १०१ ौर मिश्रदृष्टि में ७४ प्रकृतियों का वन्धस्वामित्व होता है।

देशविरति और सूक्ष्मसंपराय ये दो संयममार्गणा के भेद हैं ौर इन दोनों संयमों में अपने-अपने नाम वाला एक-एक गुणस्थान ोता है। यानी देशविरति संयम केवल पांचवें गुणस्थान में और ़क्ष्मसंपराय केवल दसवें गुणस्थान में होता है। अतएव इन दोनों ा वन्धस्वामित्व भी अपने-अपने नाम वाले गुणस्थान में वन्धाधि-ार के समान ही है। अर्थात् सामान्य और विशेष रूप से देशविरति ा वन्धस्वामित्व ६७ प्रकृतियों का और सूक्ष्मसंपराय का वन्ध-वामित्व १७ प्रकृतियों का है।

समय-समय जो आहार करे उसे आहारक (आहारी) कहते हैं। जितने भी संसारी जीव हैं, वे जव तक अपनी-अपनी आयुष्य के ारण संसार में रहते हैं, अपने-अपने योग्य कर्मों का आहरण करते हते हैं। गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान से लेकर तेरहवें ुणस्थान पर्यन्त के सभी जीव आहारक हैं और इन सव ाहण आहारमार्गणा में किया जाता है। अतएव

मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान तक तेरह गुण-स्थान माने जाते है। इस मार्गणा में विद्यमान जीवों के सामान्य से तथा विशेष रूप से अपने-अपने प्रत्येक गुणस्थानों में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। जैसे कि वन्धाधिकार में सामान्य से १२० प्रकृतियों का वन्ध वताया गया है, वैसे ही आहार मार्गणा में भी १२० प्रकृतियों का तथा गुणस्थानों की अपेक्षा पहले में ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६ छठे में ६३, सातवें में ५६ या ५८, आठवें में ५८।५६।२६, नौवें में २२।२१।२०।१६।१८, दसवें में १७, ग्यारहवें में १, वारहवें में तेरहवें में १ प्रकृति का बन्ध समझना चाहिए।

सारांश यह है कि सम्यक्त्व के औपशमिक, क्षायोपशमिक औ क्षायिक ये तीन भेद हैं। उनमें से औपशमिक सम्यक्त्व, उपशम भा चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान पर्यन्त आठ गुणस्थान तक रह है, इसलिए उपशम सम्यक्त्व मार्गणा में आठ गुणस्थान माने जा हैं। उपशम सम्यक्त्व के समय आयुवन्ध नहीं होता है, अतः सामा की अपेक्षा ७५ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

वेदक सम्यक्त्व (क्षायोपशमिक सम्यक्त्व) चौथे से लेकर सात गुणस्थान तक चार गुणस्थानों में होता है। इसके वाद श्रेणि प्रा हो जाती है और श्रेणि दो प्रकार की है—उपशमश्रेणि अ क्षपकश्रेणि। अतः क्षायोपशमिक सम्यक्त्व में चौथे से लेकर सात गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक वन्ध होना संभव है। इसलिए इसका सामान्य से वन्धस्वामित्व प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान च से लेकर सातवें गुणस्थान तक का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए

क्षायिक सम्यक्त्व चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर चौद गुणस्थान तक ग्यारह गुणस्थानों में पाया जाता है। इसमें आहारकद्विक का वन्ध संभव होने से सामान्य से ७६ प्रकृतियों

: गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार के समान चौथे से लेकर हवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र दृष्टि—ये तीनों भी सम्यक्त्व णा के भेद हैं और इनमें अपने-अपने नामवाला एक-एक गुण-न होता है। अतएव इन तीनों का सामान्य तथा विशेष वन्ध ने-अपने नामवाले गुणस्थान के समान समझना चाहिए।

संयममार्गणा के देशविरति और सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने-ने नामवाला एक-एक गुणस्थान, अर्थात् देशविरति में देशविरत मक पाँचवाँ और सूक्ष्मसंपराय में सूक्ष्मसंपराय नामक दसवाँ गुण-ान होता है। अतएव इन दोनों का बंधस्वामित्व भी इन-इन गुण-ानों के समान सामान्य और विशेष रूप से समझना चाहिए।

आहारकमार्गणा में मोक्ष न होने से पूर्व तक के सभी संसारी ोवों का ग्रहण किया जाता है। अतएव इस मार्गणा में पहले से कर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान हैं। इस मार्गणा में ामान्य रूप से तथा प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान न्धस्वामित्व समझना चाहिए।

इसप्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा व संयममार्गणा के कुछ भेदों ाथा आहारमार्गणा में सामान्य और विशेष रूप से वन्धस्वामित्व ा कथन करने के पश्चात अव सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम म्यक्त्व की विशेषता को आगे की गाथा में वताते हैं—

परमुवसमि वट्टंता आउ न बंधंति तेण अजयगुणे।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ॥२०॥

गाथार्थ उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव आयुवन्ध नहीं करते हैं। इसलिए अयत-अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में देवायु और मनुष्यायु को छोड़कर अन्य प्रकृतियों का वन्ध होता है तथा

देशविरति आदि गुणस्थानों में -देवायु के विना अन्य स्वयो प्रकृतियों का वन्ध होता है ।[1]

विशेषार्थ—पूर्व गाथा में सम्यक्त्व मार्गणा के उपशम, क्षा पशम और क्षायिक भेदों में वन्धस्वामित्व वतलाया गया है। उ से उपशम सम्यक्त्व के चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुण बतलाये गये हैं और सामान्य एवं गुणस्थानों की अपेक्षा वन्ध मित्व का कथन किया गया है। लेकिन उपशम सम्यक्त्व में विशेषता है कि इसमें वर्तमान जीव के अध्यवसाय ऐसे नहीं होते हैं जिनसे आयु का वन्ध किया जा सके। क्योंकि उपशम सम्यक्त्व प्रकार का है—(१) ग्रंथिभेदजन्य तथा (२) उपशम श्रेणि में हो वाला। इनमें से ग्रन्थिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व अनादि मिथ्या जीव को होता है और उपशम श्रेणि वाला आठवें से ग्यारह- चार गुणस्थानों में होता है।

उक्त दोनों प्रकारों में से उपशम श्रेणि सम्वन्धी गुणस्थानों आयु का वन्ध सर्वथा वर्जित है। क्योंकि आयुबन्ध सातवें गुणस्था तक होता है, उससे आगे नहीं।

ग्रंथिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर सातवें गुणस्था तक होता है। लेकिन इन गुणस्थानों में औपशमिक सम्यक्त्वी आ

---

१. इस गाथा के विषय की स्पष्टता के लिए प्राचीन वन्धस्वामित्व (गा० ५१, ५२) में कहा है—

> उवसम्मे वट्टंता चउण्हमिक्कंपि आउयं नेयं।
> बंधंति तेण अजया सुरनरआउहिं ऊणंतु ॥
> ओघो देस जयाइसु सुराउहीणो उ जाव उवसंतो।

उपशम सम्यक्त्व में वर्तमान जीव चारों में से एक भी आयु का अ सम्यग्दृष्टि जीव वन्ध नहीं करता है। इसलिए औपशमिक अविरत सम दृष्टि देवायु और मनुष्यायु का वन्ध नहीं करते हैं तथा देशविरति में देवायु का वन्ध नहीं करते हैं।

बन्ध नहीं कर सकता है। क्योंकि अनन्तानुवन्धी कषाय का वन्ध, उसका उदय, आयु का वन्ध और मरण इन चार कार्यों को सास्वादन सम्यक्त्वी कर सकता है, परन्तु इनमें से एक भी कार्य उपशम सम्यग्दृष्टि नहीं कर सकता है।[1] अतः उपशम सम्यक्त्व के समय आयुवन्ध योग्य परिणाम नहीं होते हैं। अतएव उपशम सम्यक्त्व के योग्य आठ गुणस्थानों में से चौथे गुणस्थान में उपशम सम्यग्दृष्टि को देवायु और मनुष्यायु इन दो का वर्जन इसलिए किया कि उसमें इन दो आयुओं का वन्ध संभव है, अन्य आयुओं का वन्ध नहीं। क्योंकि चौथे गुणस्थान में वर्तमान देव तथा नारक मनुष्यायु को और तिर्यंच तथा मनुष्य देवायु को ही वाँध सकते हैं। इसलिए सामान्य से वन्धाधिकार में जो चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का वन्ध वतलाया गया है, उसके वदले उपशम सम्यग्दृष्टि ७५ प्रकृतियों का वन्ध करता है।

उपशम सम्यग्दृष्टि के पाँचवें आदि गुणस्थानों के वन्ध में केवल देवायु को छोड़ दिया है। इसका कारण यह है कि उन गुणस्थानों से केवल देवायु का वन्ध संभव है। क्योंकि पाँचवें गुणस्थान के अधिकारी तिर्यंच और मनुष्य हैं और छठे एवं सातवें गुणस्थान के अधिकारी मनुष्य ही हैं, जो केवल देवायु का वन्ध कर सकते हैं। सामान्य वन्ध में से मनुष्यायु पहले ही कम की जा चुकी है। अतएव उपशम सम्यग्दृष्टि के देशविरत में ६६, प्रमत्तविरत में ६२ और अप्रमत्त विरत में ५८ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

सारांश यह है कि उपशम सम्यक्त्व ग्रन्थिभेदजन्य और उपशम श्रेणिगत के भेद से दो प्रकार का है। उनमें से ग्रंथिभेदजन्य उपशम सम्यक्त्व में चौथे से सातवें तक और श्रेणिगत में आठवें से लेकर ग्यारहवें तक कुल आठ गुणस्थान होते हैं। इनमें से उपशम श्रेणिगत

---

१. अणवन्धोदयमाउगवन्धं कालं च सासणो कुणई।
उवसमसम्मदिट्ठी चउण्हमिक्कंपि नो कुणई॥

गुणस्थानों में तो आयुवन्ध होता ही नहीं है। क्योंकि आयुवन्ध के अध्यवसाय सातवें गुणस्थान तक ही होते हैं और इन गुणस्थानों में भी ऐसे अध्यवसाय नहीं होते हैं कि जिनसे आयुवन्ध हो सके। इसलिए चौथे से लेकर सातवें गुणस्थान में बंधाधिकार के समान बन्ध न होने की वजाय चौथे में ७५, पाँचवें में ६६, छठे में ६२ और सातवें में ५८ प्रकृतियों का वन्ध समझना चाहिए।

इस प्रकार से सम्यक्त्वमार्गणा के भेद उपशम सम्यक्त्व सम्वन्धी विशेषता वतलाने के वाद अव आगे की दो गाथाओं में लेश्यामार्गणा का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं—

ओहे अट्ठारसय आहारदुगूण आइलेसतिगे।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ॥२१॥
तेऊ नरयनवूणा उज्जोयचउ नरयबार विणु सुक्का।
विणु नरयबार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ॥२२॥

गाथार्थ—आदि की तीन—कृष्ण, नील, कापोत—लेश्याओं में आहारकद्विक को छोड़ कर शेष ११८ प्रकृतियों का सामान्य वंधस्वामित्व है। उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर प्रकृति कम और सास्वादन आदि तीन गुणस्थानों में वंधाधिकार के समान वंधस्वामित्व समझना चाहिए। तेजोलेश्या का वंधस्वामित्व नरकनवक के सिवाय अन्य सव प्रकृतियों का है तथा उद्योतचतुष्क एवं नरकद्वादश इन सोलह प्रकृतियों को छोड़ कर अन्य सव प्रकृतियों का बंध शुक्ललेश्या में होता है तथा पद्मलेश्या में उक्त नरकद्वादश के सिवाय अन्य सव प्रकृतियों का होता है। मिथ्यात्व गुणस्थान में तेज आदि उक्त तीन लेश्याओं में वंधस्वामित्व तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक को छोड़कर समझना चाहिए।

विशेषार्थ—इन दो गाथाओं में लेश्यामार्गणा का वंधस्वामित्व वतलाते हैं। लेश्याओं के छह भेद हैं—(१) कृष्ण, (२) नील, (३) कापोत, (४) तेज, (५) पद्म और (६) शुक्ल। योगान्तर्गत कृष्णादि

द्रव्य के सम्वन्ध से आत्मा के जो शुभाशुभ परिणाम होते हैं, उन्हें लेश्या कहते हैं। कषाय उसकी सहकारी हैं। कषाय की जैसी-जैसी तीव्रता होती है, वैसी-वैसी लेश्याएँ अशुभ से अशुभतर होती हैं और कषाय की जैसी-जैसी मंदता होती है, वैसे-वैसे लेश्याएँ विशुद्ध से विशुद्धतर होती हैं। जैसे कि अनन्तानुवन्धी कषाय के तीव्रतम दय होने पर कृष्णलेश्या होती है और मन्द उदय होने पर शुक्ल श्या होती है।

कहीं-कहीं देवों और नारकों के शरीर के वर्णरूप लेश्या मानी । क्योंकि उनकी लेश्याएँ अवस्थित होती हैं। सातवें नरक में म्यक्त्व प्राप्ति मानी है। वहाँ द्रव्य की अपेक्षा कृष्णलेश्या भी मानी है और सम्यक्त्व की प्राप्ति शुभलेश्याओं में ही होती है। जव ऐसा है तो कृष्णलेश्या में रहने वाले जीव को सम्यक्त्व कैसे हो सकता है ? इसके लिए ऐसा माना जाता है कि द्रव्यलेश्या शरीर के वर्ण रूप और भावलेश्या भिन्न होती है और उससे सातवें नरक के नारकों के सम्यक्त्व प्राप्ति के समय विशुद्ध भावलेश्या होती है, किन्तु द्रव्य से तो कृष्णलेश्या होती है। अर्थात् प्रतिविम्व रूप से तेजोलेश्या सरीखी होती है। तात्पर्य यह है कि देव और नारकों की लेश्याएँ अवस्थित होती हैं, परन्तु शरीर के वर्ण रूप द्रव्यलेश्याएँ होती हैं और भाव की अपेक्षा वे लेश्याएँ उस-उस समय के भावानुसार होती हैं।

यहाँ यह विचारणीय है कि तीसरे कर्मग्रंथ में कृष्ण, नील, कापोत—इन तीन लेश्याओं में मिथ्यात्वादि चार गुणस्थान और चौथे कर्मग्रंथ में 'पढमतिलेसासु छच्च' (गाथा २३) द्वारा छह लेश्याएँ वतलाई हैं। तो इसका समाधान यह है कि पूर्वप्राप्त (पहले से पाये हुए) पाँचवें, छठे गुणस्थान वाले के कृष्णादिक तीन लेश्याएँ हो सकती हैं, किन्तु कृष्णादिक तीन लेश्या वाले पांचवाँ, छठा गुणस्थान प्राप्त नहीं कर सकते हैं। अतः इस दृष्टि से चार और

छह गुणस्थान कृष्णादि तीन लेश्या वालों के होने में कोई विरोध
नहीं है। जैसे कि—

सम्मत्त सुअं सव्वासु लइइ, सुद्धीसु ति सुय चारित्तं।
पुव्वडिवन्नओ पुण अन्नयरीए उ लेसाए॥

सम्यक्त्व श्रुत सर्व लेश्याओं में होता है और चारित्र तीन शु
लेश्याओं—तेज, पद्म और शुक्ल में प्राप्त होता है तथा पूर्वप्रति
(सम्यक्त्वादि सामायिक, श्रुत सामायिक, देशविरति सामायि
सर्वविरति चारित्र सामायिक ये पूर्व में प्राप्त हुए हों वैसे) जीव
में से किसी भी लेश्या में होते हैं।

उक्त कृष्ण आदि छह लेश्याओं में से कृष्ण, नील, कापोत
इन तीन लेश्या वालों के आहारकद्विक का बंध नहीं होता है। क्यों
आहारकद्विक का बन्ध सातवें गुणस्थान के सिवाय अन्य गुणस्थानों
नहीं होता है तथा उक्त कृष्णादि तीन लेश्या वाले अधिक-से-अ
छह गुणस्थानों तक पाये जाते हैं। अतएव उनके सामान्य से
प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा पहले गुणस्थान में तीर्थ
नामकर्म के सिवाय ११७, दूसरे में १०१, तीसरे में ७४ और चौ
७७ प्रकृतियों का बन्ध माना है।

कृष्णादि तीन लेश्याओं में चौथे गुणस्थान के समय ७७ प्रकृ
का बन्धस्वामित्व 'साणाइसु सव्वहिं ओहो' इस कथन के अ
माना है और इसी प्रकार प्राचीन बन्धस्वामित्व में भी उल्लेख
गया है—

सुरनरआउयसहिया अविरयसम्माउ होंति नायव्वा।
तित्थयरेण जुया तह तेऊलेसे परं वोच्छं ॥४२॥

उक्त उद्धरण से यह स्पष्ट है कि कृष्णादि तीन लेश्या
चतुर्थ गुणस्थान की ७७ प्रकृतियों में मनुष्यायु की तरह देव
गिनती है। इसी प्रकार गोम्मटसार कर्मकाण्ड में भी वेदमार्ग
लेकर आहारकमार्गणा पर्यन्त सब मार्गणाओं का बंधस्वामित्व

स्थान के समान कहा है[1] और चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध स्पष्ट रूप से माना है।[2]

इसप्रकार कर्मग्रन्थकार कृष्णादि तीन लेश्याओं में चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं, जबकि सिद्धान्त की अपेक्षा इसमें मतभिन्नता है। सिद्धान्त में बतलाया गया है कि कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में जो दो आयु का बन्ध कहा है, वहां एक ही मनुष्यायु का बन्ध सम्भव है। क्योंकि नारक, देव तो मनुष्यायु को बाँधते हैं, परन्तु मनुष्य और तिर्यंच देवायु को नहीं बाँधते हैं। क्योंकि जिस लेश्या में आयु बन्ध हो, उसी लेश्या में उत्पन्न होना चाहिए और सम्यग्दृष्टि तो वैमानिक देवों का ही आयु बाँधते हैं और वैमानिक देवों में कृष्ण, नील एवं कापोत लेश्या नहीं है, अशुद्ध लेश्या वाला सम्यग्दृष्टि देवायु का बंध नहीं करते हैं। इस सम्बन्धी भगवती० शतक ३० उद्देश १ का पाठ यह है—

'कण्हलेस्साणं भंते ! जीवा किरियावादी किं णेरइयाउयं पकरेंति पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति, मणुस्साउयं पकरेंति, णो देवाउयं पकरेंति। अकिरिया अणाणिय वेणइयवादी य चत्तारिवि आउयं पकरेंति। एवं णील लेस्सावि काउलेस्सावि।

'कण्हलेस्साणं भंते ! किरियावादी पंचिंदियतिरिक्खजोणिया किं णेरइयाउयं पुच्छा ? गोयमा ! णो णेरइयाउयं पकरेंति, णो तिरिक्खजोणियाउयं पकरेंति णो मणुस्साउयं पकरेंति णो देवाउयं पकरेंति। अकिरियावादी अणाणियवादी वेणइयवादी चउव्विहंपि पकरेंति। जहा कण्हलेस्सा एवं णीललेस्सावि काउलेस्सावि।

जहा पंचिंदियतिरिक्ख जोणियाणं वत्तव्वा भणिया एवं मणुस्साणवि भाणियव्वा।'

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु।

गो० कर्मकांड गा० १०३ —गो० कर्मकांड

कृष्णलेश्या वाले क्रियावादी (सम्यग्दृष्टि)[१] जीव क्या नरकायु का वन्ध करते हैं ; इत्यादि ? हे गौतम ! नरक आयु को नहीं बांधते हैं, तिर्यंच आयु को नहीं बाँधते हैं, मनुष्यायु को बाँधते हैं, देवायु को नहीं बाँधते हैं, और अक्रियावादी आदि मिथ्यादृष्टि चारों आयु का बन्ध करते हैं। इसीप्रकार नील और कापोत लेश्या वालों के लिए भी समझना।

हे भगवन् ! कृष्णलेश्या वाले सम्यग्दृष्टि पंचेन्द्रिय तिर्यंच क्या नरकायु का वन्ध करते हैं ? गौतम ! वे नरकायु का वन्ध नहीं करते हैं, तिर्यंचायु का बन्ध नहीं करते हैं, मनुष्यायु का वन्ध नहीं करते हैं, देवायु का बन्घ नहीं करते हैं और मिथ्यादृष्टि चारों आयु का वन्ध करते हैं। इसी प्रकार नील और कापोत लेश्या के लिए भी समझना चाहिए।

जिसप्रकार से पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के लिए कहा है वैसे ही मनुष्यों के लिये भी समझना चाहिए।

सिद्धान्त के उक्त कथन के आधार पर श्री जीवविजय जी और श्री जयसोमसूरि ने अपने-अपने टवे में शंका उठाई है कि चौथे गुणस्थानवर्ती कृष्णादि तीन लेश्या वाले जीवों को देवायु का वन्ध नहीं माना जा सकता है। अत: चतुर्थ गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों के वजाय देवायु के विना ७६ प्रकृतियों का वन्ध माना जाना चाहिए। इस मतभिन्नता का समाधान कहीं नहीं किया गया है। टवाकारों ने भी वहुश्रुतगम्य कहकर उसे छोड़ दिया है। गोम्मटसार कर्मकांड में तो इस शंका को स्थान ही नहीं है, क्योंकि वहां भगवती का पाठ मान्य करने का आग्रह नहीं है। परन्तु भगवती सूत्र को मानने वाले कर्मग्रांथिकों के लिए यह शंका उपेक्षणीय नहीं है।

---

१ 'किरियावादी' शब्द का अर्थ टीका में क्रियावादी—सम्यक्त्वी—किया गया है।

अतएव उक्त शंका के सम्बन्ध में जब तक दूसरा प्रामाणिक समाधान न मिले, तब तक यह समाधान मान लेने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए कि कृष्ण आदि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध में देवायु की गणना की गई है, वह कर्मग्रंथ सम्बन्धी मत है, सैद्धान्तिक मतानुसार नहीं।

कर्मग्रन्थ और सिद्धान्त का कई विषयों में मतभेद है।[1] इसलिए इस कर्मग्रंथ में भी उक्त देवायु का बन्ध होने न होने के सम्बन्ध में कर्मग्रंथ और सिद्धान्त का मतभेद मानकर आपस में विरोध का परिहार कर लेना उचित है।

इस प्रकार से कृष्ण, नील, कापोत इन तीन अशुभ लेश्याओं का बन्धस्वामित्व बतलाने के बाद अब तेज, पद्म और शुक्ल—इन शुभ लेश्याओं का बन्धस्वामित्व बतलाते हैं।

तेजोलेश्या पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सातवें गुणस्थान तक पाई जाती है और नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरक आयु, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण नाम, द्वीन्द्रिय त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय इन नौ प्रकृतियों का बन्ध अशुभ लेश्याओं में होने के कारण तेजोलेश्या धारण करने वालों के उक्त नौ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होने से और तेजोलेश्या वाले उन स्थानों में पैदा नहीं होते जिनमें नरकगति, सूक्ष्म एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उक्त प्रकृतियों का उदय होता है, अतः तेजोलेश्या में सामान्य से १११ प्रकृतियों का बंध

---

१ सासणभावे नाणं विउव्वगाहारगे उरलमिस्सं।
नेगिंदिसु सासाणो नेहाहिगयं सुयमयं पि॥

—कर्मग्रन्थ ४।४९

सासादन अवस्था में सम्यग्ज्ञान, वैक्रियशरीर तथा आहारक शरीर बनाने के समय औदारिकमिश्र काययोग और एकेन्द्रिय जीवों में सासादन गुणस्थान का अभाव यह तीन बातें यद्यपि सिद्धान्त तथापि इस ग्रंथ में इनका अधिकार नहीं है।

माना जाता है तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म औ आहारकद्विक का बन्ध न होने से सामान्य से बन्धयोग्य १११ प्रकृ तियों में से ३ प्रकृतियों को कम करने पर १०८ प्रकृतियों का औ दूसरे से सातवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान बन्धस्वामित्व है। अर्थात दूसरे में १०१, तीसरे में ७४, चौथे में ७७, पाँचवें में ६७, छठे में ६३ और सातवें में ५९ या ५८ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

यद्यपि गाथा के संकेतानुसार पहले शुक्ललेश्या का बन्ध-स्वामित्व बतलाना चाहिए। लेकिन सुविधा की दृष्टि से पहले तेजोलेश्या के बाद क्रमप्राप्त पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व बत-लाते है।

पद्मलेश्या में भी तेजोलेश्या के समान पहले मिथ्यात्व गुणस्थान से लेकर सात गुणस्थान होते हैं, किन्तु तेजोलेश्या की अपेक्षा पद्म-लेश्या की यह विशेषता है कि इस लेश्या वाले तेजोलेश्या की नरक-नवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं करते हैं। क्योंकि तेजोलेश्या वाले एकेन्द्रिय रूप से पैदा हो सकते हैं, किन्तु पद्मलेश्या वाले नरकादि एवं एकेन्द्रिय में उत्पन्न नहीं होते हैं, इसलिए एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है। अतएव पद्मलेश्या का बन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकद्विक का बन्ध न होने से १०५ का और दूसरे से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में बन्धाधिकार के समान ही प्रकृ-तियों का बन्ध समझना चाहिए। दूसरे से लेकर सातवें गुण-स्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों को संख्या ऊपर बतलाई जा चुकी है।

शुक्ललेश्या में पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक तेरह गुण-स्थान होते हैं। पद्मलेश्या की अपेक्षा शुक्ललेश्या की यह विशेषता है पद्मलेश्या को नहीं बंधनेयोग्य नरकगति आदि [illegible] प्रकृतियों

के अलावा उद्योतचतुष्क–उद्योत नामकर्म, तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी और तिर्यंचायु का भी वन्ध नहीं होता है। क्योंकि ये चार प्रकृतियां तिर्यंचप्रायोग्य हैं। पद्मलेश्या वाला तो उन तिर्यंचों में उपज सकता है, जहाँ उद्योतचतुष्क का उदय होता है, किन्तु शुक्ललेश्या वाला इन प्रकृतियों के उदय वाले स्थानों में उपजता नहीं है। अतएव उक्त १६ प्रकृतियाँ शुक्ललेश्या में वन्धयोग्य नहीं हैं। अतः सामान्य से १०४ प्रकृतियों का वन्ध माना जाता है तथा मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ प्रकृतियों का और दूसरे गुणस्थान में नपुंसकवेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन— इन चार प्रकृतियों को पहले मिथ्यात्व गुणस्थान की वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियों में से कम करने पर ९७ प्रकृतियों का वन्ध होता है। नपुंसक वेद आदि इन चार प्रकृतियों को कम करने का कारण यह है कि ये चारों मिथ्यात्व के सद्भाव में वँधती हैं, किन्तु दूसरे गुणस्थान में मिथ्यात्व का अभाव है। तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक प्रत्येक गुणस्थान में कर्म-प्रकृतियों का वन्ध आदि वन्धाधिकार में वतलाया है, इसीप्रकार शुक्ललेश्या वालों के लिए समझ लेना चाहिए।

शुक्ललेश्या के वन्धस्वामित्व में नरकगति आदि तिर्यंच आयु पर्यन्त १६ प्रकृतियों का वन्ध नहीं माना है। अतः यहाँ शंका है—

तत्त्वार्थभाष्य में 'पीतपद्मशुक्ललेश्या द्वित्रिशेषेषु। (अ० ४, सूत्र २३)। शेषेषु लान्तकादिष्वासर्वार्थसिद्धाच्छुक्ललेश्याः तथा संग्रहणी में, कप्पतिय पम्हलेसा लंताइसु सुक्कलेस हुंति सुरा (गा० १७५)।

प्रथम दो देवलोकों में तेजोलेश्या, तीन देवलोकों में पद्मलेश्या और लान्तक कल्प से लेकर सर्वार्थसिद्धि पर्यन्त शुक्ललेश्या वताई है। तो यहाँ प्रश्न होता है कि लान्तककल्प से लेकर सहस्रार कल्प पर्यन्त के शुक्ललेश्या वाले देव तिर्यंचों में भी उत्पन्न हो जाते हैं तो तत्प्रायोग्य उद्योतचतुष्क का वन्ध क्यों नहीं करते हैं तथा इस ग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा में आनतादि देवलोकों के वन्धस्वामित्व

के प्रसंग में 'आणयाई उजोयचउरहिया' आनतादि कल्प के देव उद्योतचतुष्क के सिवाय शेष प्रकृतियों का वन्ध करते हैं, ऐसा कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि सहस्रार कल्प तक के देव उद्योतचतुष्क का वन्ध करते हैं और यहाँ शुक्ललेश्या मार्गणा में वन्ध का निषेध किया है। इस प्रकार पूर्वापर विराध है।

श्री जीवविजय जी और श्री जयसोमसूरि ने भी अपने-अपने टबे में इस पूर्वापर विरोध का दिग्दर्शन कराया है।

इस कर्मग्रंथ के समान ही दिगम्वरीय कर्मशास्त्र में भी वर्णन है। दिगम्बरीय कर्मशास्त्र गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा ११२ में कहा है—

कप्पित्थीसु ण तित्थं सदरसहस्सारगोत्ति तिरियदुगं।
तिरियाऊ उज्जोवो अत्थि तदो णत्थि सदरचऊ॥[1]

गोम्मटसार कर्मकाण्ड की इस गाथा में जो सहस्रार देवलोक तक का बंधस्वामित्व कहा है, उसमें इस कर्मग्रन्थ की ग्यारहवीं गाथा के समान ही उद्योतचतुष्क की गणना की गई तथा गोम्मटसार कर्मकाण्ड की गाथा १२१ में शुक्ललेश्या के वन्धस्वामित्व के कथन में[2] भी उद्योतचतुष्क का वर्णन है।

अतः कर्मग्रंथ और गोम्मटसार में वन्धस्वामित्व समान होने पर भी दिगम्वरीय शास्त्र में उपर्युक्त विरोध नहीं आता है। क्योंकि

---

१ कल्पवासिनी स्त्रियों में तीर्थकर प्रकृति का वन्ध नहीं होता है और तिर्यंचद्विक, तिर्यंचायु और उद्योत इन चार प्रकृतियों का वन्ध शतार सहस्रार नामक स्वर्ग तक होता है। आनतादि में इन चार प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है। अतः इन चार को शतारचतुष्क भी कहते हैं क्योंकि शतार युगल तक ही इनका वन्ध होता है।

२ सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमबारसं च ण व अत्थि।

दिगम्बर मतानुसार लान्तव (लान्तक) देवलोक में पद्मलेश्या ही है।[1] अतएव उक्त दिगम्बरीय सिद्धान्तानुसार यह कहा जा सकता है कि सहस्रार कल्प पर्यन्त के बन्धस्वामित्व में उद्योतचतुष्क की जो गणना की गई है, सो पद्मलेश्या वालों की अपेक्षा से, शुक्ललेश्या वालों की अपेक्षा से नहीं। लेकिन तत्त्वार्थभाष्य, संग्रहणी आदि ग्रन्थों में देवलोकों की लेश्या के विषय में किये गए उल्लेखानुसार उक्त विरोध का परिहार नहीं होता है। यद्यपि उस विरोध का परिहार करने के लिए श्री जीवविजय जी ने अपने टबे में कुछ नहीं लिखा है, लेकिन श्री जयसोमसूरि ने इसका समाधान करते हुए लिखा है कि 'यह मानना चाहिए कि नौवें आदि देवलोकों में ही शुक्ललेश्या है।' इस कथन के अनुसार छठे आदि तीन देवलोकों में पद्म-शुक्ल दो लेश्याएँ और नौवें आदि देवलोकों में केवल शुक्ल लेश्या मान लेने से उक्त विरोध का परिहार हो जाता है।

लेकिन इस पर प्रश्न होता है कि तत्त्वार्थभाष्य और संग्रहणी सूत्र में छठे, सातवें और आठवें देवलोक में शुक्ललेश्या का भी उल्लेख क्यों किया गया है? इसका समाधान यह है कि तत्त्वार्थ-भाष्य और संग्रहणी सूत्र में जो कथन है वह बहुलता की अपेक्षा से है। अर्थात् छठे आदि तीन देवलोकों में शुक्ल लेश्या की बहुलता है और इसीलिए उनमें पद्मलेश्या संभव होने पर भी उसका कथन नहीं किया गया है। अर्थात् शुक्ललेश्या वालों के जो बन्धस्वामित्व कहा गया है, वह विशुद्ध शुक्ललेश्या की अपेक्षा से है।

इसप्रकार तत्त्वार्थभाष्य और संग्रहणीसूत्र की व्याख्या को उदार बनाकर विरोध का परिहार कर लेना चाहिए।

सारांश यह है कि कृष्णादि छह लेश्याओं में कृष्ण, नील, कापोत इन तीन लेश्यावाले आहारकद्विक को छोड़कर सामान्य से ११८

---

१ ब्रह्मलोकब्रह्मोत्तरलान्तवकापिष्ठेषु पद्म लेश्या। शुक्रमहाशुक्रशतारसहस्रारेषु पद्मशुक्ललेश्याः।

—तत्त्वार्थ सूत्र ४।२२ सर्वार्थसिद्धि टीका

प्रकृतियों का वन्ध करते हैं और मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंक प्रकृति का वन्ध न होने से ११७ प्रकृतियों का तथा दूसरे, तीसरे और चौथे गुणस्थान में वन्धस्वामित्व के समान ही वन्ध समझना चाहिए।

चौथे गुणस्थान के समय इन कृष्णादि तीन लेश्याओं में ७७ प्रकृतियों का वन्ध माना है, उसमें देवायु का भी ग्रहण है, जो कर्मग्रंथकारों की दृष्टि से ठीक है। लेकिन भगवती सूत्र में बताया है कि कृष्णादि तीन लेश्यावाले सम्यक्त्वी मनुष्यायु को बांध सकते हैं, अन्य आयु को नहीं। इस प्रकार ७६ प्रकृतियों का वन्ध माना जाना चाहिए। इस विरोध का परिहार करने का सरल उपाय यह है कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यक्त्वियों के प्रकृतिवन्ध में जो देवायु की गणना की गई है, वह कर्मग्रंथकारों के मतानुसार है, सैद्धान्तिक मत के अनुसार नहीं।

तेजोलेश्या पहले सात गुणस्थान में पाई जाती है और इस लेश्या वाले नरकनवक का वन्ध नहीं करने से सामान्य से १११ प्रकृतियों का वन्ध करते हैं और पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०८ और दूसरों से सातवें तक प्रत्येक गुणस्थान में वन्धाधिकार के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

पद्मलेश्या में भी तेजोलेश्या के समान ही सात गुणस्थान होते हैं। लेकिन तेजोलेश्या से इसमें विशेषता यह है कि पद्मलेश्या वाले नरकनवक के अतिरिक्त एकेन्द्रिय, स्थावर और आतप इन तीन प्रकृतियों को भी नहीं बाँधते हैं। अतएव पद्मलेश्या का वन्धस्वामित्व सामान्य रूप से १०८ प्रकृतियों का तथा पहले गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म तथा आहारकद्विक को घटाने से १०५ का और दूसरे से लेकर सातवें गुणस्थान तक प्रत्येक में वन्धाधिकार के समान ही वंध समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या पहले से लेकर तेरह गुणस्थान तक पाई जाती है। इसमें पद्मलेश्या की अवन्ध्य वारह प्रकृतियों के अतिरिक्त उद्योत-चतुष्क का भी वन्ध नहीं होने से सोलह प्रकृतियाँ सामान्य वन्ध में नहीं गिनी जाती हैं। इसलिए सामान्य रूप से १०४ प्रकृतियों का वन्ध होता है और मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थंकर नामकर्म और आहारकद्विक के सिवाय १०१ का तथा दूसरे गुणस्थान में नपुंसक वेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व और सेवार्त संहनन इन चार को १०१ में से कम करने से शेष ९७ प्रकृतियों का और तीसरे से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक गुणस्थानों के समान ही बंधस्वामित्व समझना चाहिए।

इसप्रकार से लेश्यामार्गणा का वन्धस्वामित्व वतलाने के वाद आगे की गाथा में भव्य आदि शेष रही मार्गणाओं के वन्धस्वामित्व का कथन करते हैं—

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ॥२३॥

गाथार्थ—भव्य और संज्ञी मार्गणाओं में सभी गुणस्थानों में बंधाधिकार के समान वन्धस्वामित्व है तथा अभव्य और असंज्ञियों का वन्धस्वामित्व मिथ्यात्व गुणस्थान के समान है। सास्वादन गुणस्थान में असंज्ञियों का वन्धस्वमित्व संज्ञी के समान तथा अनाहारकमार्गणा का वन्धस्वामित्व कार्मणयोग के समान जानना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में भव्य व संज्ञी मार्गणा के भेदों में तथा आहारमार्गणा के भेद अनाहारक मार्गणा में वन्धस्वामित्व वतलाया है।

भव्य और संज्ञी—ये दोनों चौदह गुणस्थानों के अधिकारी हैं। इसलिए इनका वन्धस्वामित्व सामान्य से १२० प्रकृतियों का और गुणस्थानों की अपेक्षा मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७, सा।

स्थान में १०१ आदि वन्धाधिकार के समान समझना चाहिए। सामान्य और गुणस्थानों में वन्ध का वर्णन दूसरे कर्मग्रन्थ में विशद रूप से किया गया है, अतः यहाँ पुनरावृत्ति नहीं की गई है।

द्रव्यमन के विना भावमन नहीं होता है जैसे कि असंज्ञी। केवली भगवान के भावमन के बिना भी द्रव्यमन होता है, ऐसा सिद्धान्त में वताया गया है।[1]अर्थात् केवली भगवान के मतिज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशमजन्य मनन परिणाम रूप भावमन नहीं है परन्तु अनुत्तर विमान के देवों के द्वारा पूछे गये प्रश्नों के उत्तर द्रव्यमन से देते हैं। इसलिए भावमन के विना द्रव्यमन होता है और वह मन चौदह गुणस्थान तक होता है। सिद्धान्त में उसे नोसंज्ञी नोअसंज्ञी कहा है। यहां संज्ञीमार्गणा में द्रव्यमन की अपेक्षा संज्ञी मानकर चौदह गुणस्थान वतलाये गये हैं।

अभव्य जीवों के पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है और सम्यक्त्व एवं चारित्र की प्राप्ति न होने के कारण तीर्थङ्कर नामकर्म तथा आहारकद्विक का वन्ध संभव ही नहीं है। इसलिए सामान्य से तथा पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म, आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों को छोड़कर सामान्य व गुणस्थान की अपेक्षा ११७ प्रकृतियों के वन्ध के अधिकारी हैं।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते हैं। इनके सामान्य से और पहले मिथ्यात्व गुणस्थान में तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक का वन्ध नहीं होने से तीन प्रकृतियों को छोड़कर ११७ प्रकृतियों का वन्ध होता है। दूसरे गुणस्थान में संज्ञी जीवों के समान १०१ प्रकृतियों के वन्धाधिकारी हैं।

अनाहारकमार्गणा में कार्मण काययोग मार्गणा के समान वन्धस्वामित्व समझना चाहिए। यह मार्गणा पहले, दूसरे, चौ

---

१. द्रव्यचित्तं विना भाव—चित्तं न स्याद्ऽसंज्ञिवत्।
विनाऽपि भावचित्तं तु द्रव्यं केवलिनो भवेत ॥

वें और चौदहवें इन पाँच गुणस्थानों में पाई जाती हैं।[1] इनमें हला, दूसरा और चौथा—ये तीन गुणस्थान उस समय होते हैं, समय जीव दूसरे स्थान में पैदा होने के लिए विग्रहगति से हैं, उस समय एक, दो या तीन समय पर्यन्त जीव को औदारिक इ स्थूल शरीर नहीं होने से अनाहारक अवस्था रहती है[2] तथा वें गुणस्थान में केवली समुद्घात के तीसरे, चौथे और पाँचवें य में अनाहारकत्व रहता है। चौदहवें गुणस्थान में योग का ोध (अभाव) हो जाने से किसी तरह का आहार संभव नहीं है। लिए उक्त पाँच गुणस्थानों में अनाहारक मार्गणा मानी ी हैं।

किन्तु यहाँ जो कार्मण योग के समान अनाहारक मार्गणा में स्वामित्व कहा है, उसका करण यह समझना चाहिए कि यहाँ र गुणस्थान वन्ध की अपेक्षा से वताये गये हैं, क्योंकि अयोगी तो ग निरोध (अभाव) के कारण अवन्धक हो हैं। शेष रहे पहले, रे, चौथे और तेरहवें गुणस्थान। उनमें भी विग्रहगति स्थित जीव वधारणीय शरीर के अभाव के कारण अनाहारक अवस्था होती ाथा तेरहवें गुणस्थान में जव केवली समुद्घात करे, तव तीसरे थे और पांचवें समय में अनाहारक अवस्था होती है। इस अपेक्षा रहवाँ गुणस्थान समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण योग के समान सामान्य से ११२

प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ६४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ प्रकृति का वन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में जो सामान्य आदि की अपेक्षा व स्वामित्व बतलाया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—वन्ध १२० प्रकृतियों में से आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्य तिर्यंचायु—इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से तथा इनमें से जिन नाम, देवद्विक, और वैक्रियद्विक इन पाँच तियों को कम करने से पहले गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का इन १०७ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय ज स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, संस्थान और सेवार्त संहनन— इन तेरह प्रकृतियों के कम करने दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ६४ प्रकृतियों का तथा इनमें से न्तानुवन्धी चतुष्क आदि चौवीस प्रकृतियों को कम करने जिनपंचक प्रकृतियों को मिलने पर चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृ का तथा सयोगी केवली गुणस्थान में एक सातावेदनीय प्रकृति वन्ध होता है।

सारांश यह है कि भव्य और संज्ञी इन दो मार्गणाओं में ही गुणस्थान होते हैं, अतः इनका सामान्य से और गुणस्थान अपेक्षा वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार से वताये गये अनुसार सम चाहिए।

अभव्य पहले ही गुणस्थान में वर्तमान होते है, अतः इ वन्धस्वामित्व सामान्य एवं गुणस्थान की अपेक्षा पहले गुण में ११७ प्रकृतियों का है।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं इनमें तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक—इन तीन प्रकृ का वन्ध होना संभव नहीं है, अतः सामान्य से और पहले गुण में ११७ प्रकृतियों का और दूसरे में वन्धाधिकार के समान १ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

यद्यपि पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें इन पाँच गुण-थानों में अनाहारक अवस्था होती है। किन्तु वन्ध की अपेक्षा से नाहारक मार्गणा में कार्मण काययोग के समान, पहला, दूसरा, ौथा और तेरहवाँ—ये चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि कर्म-न्ध होना वहीं तक संभव है, और इनमें सामान्य व गुणस्थानों की पेक्षा वन्ध कार्मणयोग के समान समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य े ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ७५ व तेरहवें में १ प्रकृति का वन्ध होता है।

इसप्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है। अव आगे की गाथा में ग्रंथ-समाप्ति एवं लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन करते हैं—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं ।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

गाथार्थ—पहली तीन लेश्याओं में आदि के चार गुणस्थान, तेज और पद्म इन दो लेश्याओं में सात गुणस्थान तथा शुक्ललेश्या में तेरह गुणस्थान होते हैं। इसप्रकार श्री देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित इस वन्धस्वामित्व प्रकरण का ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रंथ को जानकर करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में ग्रंथ-समाप्ति का संकेत करते हुए श्याओं में गुणस्थानों को वतलाया है।

लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन अलग से करने का कारण यह कि अन्य मार्गणाओं में जितने-जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रंथ में वतलाये गये हैं, उनमें कोई मतभेद नहीं है, परन्तु लेश्यामार्गणा के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान हैं।[1] परन्तु इस तीसरे कर्मग्रंथ के

1. अस्सन्निसु पढमदुगं पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त ।

—चतुर्यकर्मग्रन्थ २३

प्रकृतियों का और पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ९४, चौथे में ७५ और तेरहवें में १ प्रकृति का बन्धस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक मार्गणा में जो सामान्य आदि की अपेक्षा बन्ध-स्वामित्व बतलाया है, उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—बन्धयोग्य १२० प्रकृतियों में से आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु तिर्यंचायु—इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से ११ तथा इनमें से जिन नाम, देवद्विक, और वैक्रियद्विक इन पाँच प्रकृ तियों को कम करने से पहले गुणस्थान में १०७ प्रकृतियों का औ इन १०७ प्रकृतियों में से सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, एकेन्द्रिय जाति स्थावर नाम, आतप नाम, नपुंसक वेद, मिथ्यात्व मोहनीय, हुं संस्थान और सेवार्त संहनन— इन तेरह प्रकृतियों के कम करने प दूसरे सास्वादन गुणस्थान में ९४ प्रकृतियों का तथा इनमें से अन न्तानुबन्धी चतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियों को कम करने तथ जिनपंचक प्रकृतियों को मिलने पर चौथे गुणस्थान में ७५ प्रकृतिय का तथा सयोगी केवली गुणस्थान में एक सातावेदनीय प्रकृति क बन्ध होता है।

सारांश यह है कि भव्य और संज्ञी इन दो मार्गणाओं में चौद ही गुणस्थान होते हैं, अतः इनका सामान्य से और गुणस्थानों क अपेक्षा बन्धस्वामित्व बन्धाधिकार से बताये गये अनुसार समझन चाहिए।

अभव्य पहले ही गुणस्थान में वर्तमान होते है, अतः इनका बन्धस्वामित्व सामान्य एवं गुणस्थान की अपेक्षा पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का है।

असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा, ये दो गुणस्थान होते हैं और इनमें तीर्थङ्कर नामकर्म और आहारकद्विक—इन तीन प्रकृतियों का बन्ध होना संभव नहीं है, अतः सामान्य से और पहले गुणस्थान में ११७ प्रकृतियों का और दूसरे में बन्धाधिकार के समान १०१ प्रकृतियों का बन्ध होता है।

यद्यपि पहले, दूसरे, चौथे, तेरहवें और चौदहवें इन पाँच गुणस्थानों में अनाहारक अवस्था होती है। किन्तु वन्ध की अपेक्षा से अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोग के समान, पहला, दूसरा, चौथा और तेरहवाँ—ये चार गुणस्थान होते हैं। क्योंकि कर्मवन्ध होना वहीं तक संभव है, और इनमें सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा वन्ध कार्मणयोग के समान समझना चाहिए। अर्थात् सामान्य से ११२, पहले गुणस्थान में १०७, दूसरे में ७५ व तेरहवें में १ प्रकृति का वन्ध होता है।

इसप्रकार गति आदि चौदह मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का कथन किया जा चुका है। अव आगे की गाथा में ग्रंथ-समाप्ति एवं लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन करते हैं—

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति वंधसामित्तं।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ॥२४॥

गाथार्थ—पहली तीन लेश्याओं में आदि के चार गुणस्थान, तेज और पद्म इन दो लेश्याओं में सात गुणस्थान तथा शुक्ललेश्या में तेरह गुणस्थान होते हैं। इसप्रकार श्री देवेन्द्रसूरि द्वारा रचित इस वन्धस्वामित्व प्रकरण का ज्ञान 'कर्मस्तव' नामक दूसरे कर्मग्रंथ को जानकर करना चाहिए।

विशेषार्थ—इस गाथा में ग्रंथ-समाप्ति का संकेत करते हुए लेश्याओं में गुणस्थानों को वतलाया है।

लेश्याओं में गुणस्थानों का कथन अलग से करने का कारण यह है कि अन्य मार्गणाओं में जितने-जितने गुणस्थान चौथे कर्मग्रंथ में वतलाये गये है, उनमें कोई मतभेद नहीं है, परन्तु लेश्यामार्गणा के सम्वन्ध में ऐसा नहीं है। चौथे कर्मग्रन्थ के मतानुसार कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में छह गुणस्थान हैं।[1] परन्तु इस तीसरे कर्मग्रंथ के

---

१. अस्सन्निसु पढमदुगं पढमतिलेसासु छच्च दुसु सत्त।

—चतुर्थकर्मग्रन्थ २३

मतानुसार उनमें चार गुणस्थान ही माने हैं। यह चार गुणस्थानों का कथन पंचसंग्रह और प्राचीन वन्धस्वामित्व के मतानुसार है। पंचसंग्रह और प्राचीन वन्धस्वामित्व की तत्सम्वन्धी गाथाएँ इसप्रकार हैं—

'छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति' —पंचसंग्रह १-३०

'छच्चउसु तिण्णि तीसु छएहं सुक्का अजोगी अलेस्सा।'
—प्राचीन बंधस्वामित्व गाथा ४०

उक्त मतों का समर्थन गोम्मटसार में भी किया गया है।[1] अतएव कृष्णादि तीन लेश्याओं में वन्धस्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही किया गया है। कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को पहले चार गुणस्थान में मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणाम रूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में नहीं पाई जा सकती हैं। तेज आदि तीन लेश्याओं में से तेज और पद्म—ये दो लेश्याएँ शुभ हैं परन्तु उनकी शुभता शुक्ललेश्या से वहुत कम है, इसलिए वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं और शुक्ललेश्या का स्वरूप परिणामों की मन्दता (शुद्धता) से इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन छह लेश्याओं का सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा वंधस्वामित्व गाथा २१ और २२ में वतलाया जा चुका है। अतः वहां से समझ लेना चाहिए।

---

१ थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतिहलेस्सा।
सण्णी दो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ॥
—गो० जीवकांड ६९१

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावर काय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त होती हैं और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त पर्यन्त होती हैं।

इस ग्रंथ में मार्गणाओं को लेकर जीवों के वन्धस्वामित्व का कथन सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से किया गया है। इसलिए इस प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दूसरे कर्मग्रंथ का अध्ययन कर लेना जरूरी है। क्योंकि दूसरे कर्मग्रंथ में गुणस्थानों को लेकर प्रकृतिबंध का विचार किया गया है जो इस प्रकरण में भी आता है कि अमुक मार्गणा का वन्धस्वामित्व बन्धाधिकार के समान है।

इस प्रकरण का नाम बंधस्वामित्व रखने का कारण यह है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृतिवन्ध सम्बन्धी योग्यता या वन्धस्वामित्व का विचार किया गया है।

इसप्रकार से श्री देवेन्द्रसूरि विरचित वन्धस्वामित्व नामक यह तीसरा कर्मग्रंथ समाप्त हुआ।

वन्ध स्वामित्व नामक तृतीय कर्मग्रंथ समाप्त।

मतानुसार उनमें चार गुणस्थान ही माने हैं। यह चार गुणस्थानों का कथन पंचसंग्रह और प्राचीन बन्धस्वामित्व के मतानुसार है। पंचसंग्रह और प्राचीन बन्धस्वामित्व की तत्सम्बन्धी गाथाएं इसप्रकार हैं—

'छल्लेस्सा जाव सम्मोत्ति' —पंचसंग्रह १-३०

'छच्चउसु तिण्णि तीसु छण्हं सुक्का अजोगी अलेस्सा।'

—प्राचीन बंधस्वामित्व गाथा ४०

उक्त मतों का समर्थन गोम्मटसार में भी किया गया है।[1] अतएव कृष्णादि तीन लेश्याओं में बन्धस्वामित्व भी चार गुणस्थानों को लेकर ही किया गया है। कृष्ण आदि तीन लेश्याओं को पहले चार गुणस्थान में मानने का आशय यह है कि ये लेश्याएँ अशुभ परिणाम रूप होने से आगे के अन्य गुणस्थानों में नहीं पाई जा सकती हैं। तेज आदि तीन लेश्याओं में से तेज और पद्म—ये दो लेश्याएँ शुभ हैं परन्तु उनकी शुभता शुक्ललेश्या से बहुत कम है, इसलिए वे दो लेश्याएँ सातवें गुणस्थान तक पाई जाती हैं और शुक्ललेश्या का स्वरूप परिणामों की मन्दता (शुद्धता) से इतना शुभ हो सकता है कि वह तेरहवें गुणस्थान तक पाई जाती है।

इन छह लेश्याओं का सामान्य व गुणस्थानों की अपेक्षा बंधस्वामित्व गाथा २१ और २२ में बतलाया जा चुका है। अतः वहां से समझ लेना चाहिए।

---

१ थावरकायप्पहुदी अविरदसम्मोत्ति असुहतिहलेस्सा।
सण्णी दो अपमत्तो जाव दु सुहतिण्णिलेस्साओ॥

—गो० जीवकांड ६९१

अर्थात् पहली तीन अशुभ लेश्याएँ स्थावर काय से लेकर चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त होती हैं और अन्त की तीन शुभ लेश्याएँ संज्ञी मिथ्यादृष्टि से लेकर अप्रमत्त पर्यन्त होती हैं।

इस ग्रंथ में मार्गणाओं को लेकर जीवों के बन्धस्वामित्व का कथन सामान्य रूप से तथा गुणस्थानों को लेकर विशेष रूप से किया गया है। इसलिए इस प्रकरण को स्पष्ट रूप से समझने के लिए दूसरे कर्मग्रंथ का अध्ययन कर लेना जरूरी है। क्योंकि दूसरे कर्म-ग्रंथ में गुणस्थानों को लेकर प्रकृतिबंध का विचार किया गया है जो इस प्रकरण में भी आता है कि अमुक मार्गणा का वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार के समान है।

इस प्रकरण का नाम बंधस्वामित्व रखने का कारण यह है कि इसमें मार्गणाओं के द्वारा जीवों की प्रकृतिबन्ध सम्बन्धी योग्यता के वन्धस्वामित्व का विचार किया गया है।

इसप्रकार से श्री देवेन्द्रसूरि विरचित वन्धस्वामित्व नामक यह तीसरा कर्मग्रंथ समाप्त हुआ।

बन्ध स्वामित्व नामक तृतीय कर्मग्रंथ समाप्त।

मार्गणाओं में उदय-उदीरणा-सत्ता-स्वामित्व

तीसरे कर्मग्रन्थ में सामान्य और गुणस्थानों के माध्यम से मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का कथन है, किन्तु उदय, उदीरणा, सत्ता के स्वामित्व का विचार नहीं किया गया है। लेकिन उपयोगिता की दृष्टि से संक्षेप में उनका विवेचन आवश्यक प्रतीत होता है। अतः उनसे सम्वन्धित स्पष्टीकरण किया जाता है।

उदयस्वामित्व

नरकगति—इस मार्गणा में मिथ्यात्व से लेकर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थान होते हैं। सामान्यतया उदययोग्य १२२ प्रकृतियाँ है, उनमें से ज्ञानावरण पाँच, दर्शनावरण चार, अंतराय पाँच, मिथ्यात्व मोहनीय, तैजस नाम, कार्मण नाम, वर्णचतुष्क, अगुरुलघु नाम, निर्माण नाम, स्थिर नाम, अस्थिर नाम, शुभ नाम और अशुभ नाम ये सत्ता-वीस प्रकृतियाँ ध्रुवोदयी—अपनी-अपनी उदय भूमिका पर्यन्त अवश्य उदयवती होती हैं। उनमें मिथ्यात्व मोहनीय की उदयभूमि प्रथम गुणस्थान है और वहाँ वह ध्रुवोदयी है। पाँच ज्ञानावरणीय, चार दर्शनावरणीय और पाँच अन्तराय इन चौदह प्रकृतियों का उदय वारहवें गुणस्थान तक और शेप वारह प्रकृतियों का उदय तेरहवें गुणस्थान तक सभी जीवों के होने से वे ध्रुवोदयी हैं। ये सत्तावीस ध्रुवोदयी प्रकृतियाँ तथा निद्रा, प्रचला, वेदनीयद्विक, नीच गोत्र, नरकत्रिक, पंचेन्द्रिय जाति, वैक्रियद्विक, हुन्डसंस्थान, अशुभविहायो-गति, पराघात, उच्छ्वास नाम, उपघात, त्रसचतुष्क, दुर्भग, दुस्वर, अनादेय, अयश, सोलह कपाय, हास्यादिषट्क, नपुंसक वेद, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय ये ७६ प्रकृतियाँ सामान्य से नारकों के उदय में होती हैं। उनमें से पंचसंग्रह और कर्मप्रकृति के मत से स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय वैक्रिय शरीरं देव और नारकों के नहीं होता है। कहा है कि असंख्य वर्प की आ

वाले मनुष्य, तिर्यंच, वैक्रिय शरीर वाले, आहारक शरीर वाले और अप्रमत्त साधु के सिवाय शेष अन्य के स्त्यानर्द्धित्रिक का उदय और उदीरणा होती है।[1]

सामान्य से उदयवर्ती ७६ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ तथा नरकानुपूर्वी और मिथ्यात्व मोहनीय के सिवाय ७२ प्रकृतियाँ सास्वादन गुणस्थान में उदययोग्य हैं, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोड़ने पर मिश्रगुणस्थान में ६९ प्रकृतियाँ और उनमें से मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा नरकानुपूर्वी का प्रक्षेप करने से अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

तिर्यंचगति—इस मार्गणा में पाँच गुणस्थान होते हैं। इसमें देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, मनुष्यत्रिक, उच्च गोत्र और जिन नाम—इन पन्द्रह प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। इसलिए उदययोग्य १२२ प्रकृतियों में से पन्द्रह प्रकृतियों को कम करने पर सामान्य से १०७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। तिर्यंचों के भवधारणीय वैक्रिय शरीर नहीं होता है, किन्तु लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर होता है, अतः उसकी अपेक्षा से वैक्रियद्विक को साथ जोड़ने पर १०९ प्रकृतियाँ उदय में मानी जा सकती हैं लेकिन सामान्य से १०७ प्रकृतियां उदययोग्य मानी जाती हैं। पूर्वोक्त १०७ प्रकृतियों में से सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों को कम करने से मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५ प्रकृतियाँ, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, आतप नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन पांच प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदययोग्य होती हैं, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क,

---

१ क—देखें कर्मप्रकृति उदीरणाकरण गाथा १९—'संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंच के इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद स्त्यानर्द्धित्रिक उदय में आने योग्य है, उसमें भी आहारकलब्धि तथा वैक्रियलब्धि वाले को उसका उदय नहीं होता है।

ख—थीणतिगुदओ णरे तिरिये।

—गो० कर्मकाण्ड २८५

स्थावर नाम, एकेन्द्रियादि जातिचतुष्क और तिर्यंचानुपूर्वी—इन दस प्रकृतियों को कम करने पर और मिश्र मोहनीय को जोड़ने से मिश्र गुणस्थान में ९१ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से मिश्र मोहनीय के कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा तिर्यंचानुपूर्वी—इन दो प्रकृतियों को मिलाने से अविरत गुणस्थान में ९२ उदय में होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, अनादेय, अयश और तिर्यंचानुपूर्वी इन आठ प्रकृतियों के सिवाय देशविरति गुणस्थान में ८४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

यहाँ सर्वत्र लब्धिप्रत्यय वैक्रिय शरीर की विवक्षा नहीं की है, अतएव वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग इन दो प्रकृतियों को सर्वत्र कम समझना चाहिए।

मनुष्यगति—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। देवत्रिक, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, जातिचतुष्क, तिर्यंचत्रिक, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप—इन २० प्रकृतियों का उदय मनुष्य के होता नहीं है, इसलिए उनको कम करने पर सामान्य से १०२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। परन्तु लब्धि-निमित्तक वैक्रिय शरीर की अपेक्षा उत्तर वैक्रिय शरीर करने पर वैक्रियद्विक और उद्योत नाम का उदय होने से इन तीन प्रकृतियों सहित १०५ प्रकृतियाँ भी उदय में हो सकती हैं लेकिन उनकी यहां अपेक्षा नहीं की गई है। यहाँ सामान्य से जो १०२ प्रकृतियाँ उदय में आती हैं, उनमें से मिथ्यात्व गुणस्थान में आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों का उदय नहीं होने से, उन्हें कम करने पर ९७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अपर्याप्त नाम और मिथ्यात्व मोहनीय—इन दो प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में ९५ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें अनन्तानुबन्धीचतुष्क और मनुष्यानुपूर्वी इन पाँच प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोड़ने पर मिश्र गुणस्थान में ९१ प्रकृतियाँ हैं तथा उनमें से मिश्र मोहनीय को कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय एवं मनुष्यानुपूर्वी के मिलाने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ९२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय, अयशःकीर्ति और नीचगोत्र इन ९ प्रकृतियों के सिवाय देशविरत गुणस्थान में

प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उक्त ८३ प्रकृतियों में से प्रत्याख्यानावरणचतुष्क का उदयविच्छेद पांचवें गुणस्थान में हो जाने से छठे प्रमत्तविरत गुणस्थान में ७९ प्रकृतियाँ उदय योग्य है, लेकिन आहारकद्विक का उदय छठे गुणस्थान में होता है अतः इन दो प्रकृतियों को मिलाने से ८१ प्रकृतियों का उदय माना जाता है।

स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ होती है। सम्यक्त्व मोहनीय और अंतिम तीन संघयण—इन चार प्रकृतियों को कम करने पर अपूर्वकरण में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। हास्यादिषट्क के सिवाय अनिवृत्ति गुणस्थान में ६६ प्रकृतियाँ होती हैं। वेदत्रिक और संज्वलनत्रिक इन छह प्रकृतियों के अलावा सूक्ष्म संपराय गुणस्थान में ६० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। संज्वलन लोभ के विना उपशांतमोह गुणस्थान में ५९ प्रकृतियाँ होती हैं। ऋषभ-नाराच और नाराच इन दो प्रकृतियों के सिवाय क्षीणमोह गुणस्थान के द्विचरम समय से ५७ प्रकृतियाँ और निद्रा, प्रचला के सिवाय क्षीणमोह के अंतिम समय में ५५ प्रकृतियाँ होती हैं। ज्ञानावरण ५, दर्शनावरण ४ और अन्तराय ५—इन चौदह प्रकृतियों के उदयविच्छेद होने तथा तीर्थंकर नाम-कर्म उदययोग्य होने से सयोगि केवली गुणस्थान में ४२ प्रकृतियाँ होती हैं। औदारिकद्विक, विहायोगतिद्विक, अस्थिर, अशुभ, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, संस्थानषट्क, अगुरुलघुचतुष्क, वर्णचतुष्क, निर्माण, तैजस, कार्मण, वज्र-ऋषभनाराच संहनन, दुःस्वर, सुस्वर, सातावेदनीय और असातावेदनीय में से कोई एक—इन ३० प्रकृतियों के विना अयोगि केवलि गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय होता है। सुभग, आदेय, यशकीर्ति, साता या असाता वेदनीय में से कोई एक, त्रस, वादर, पर्याप्त, पंचेन्द्रिय जाति, मनुष्यद्विक, जिन नाम और उच्च गोत्र—ये १२ प्रकृतियाँ अयोगि केवल गुणस्थान के अन्तिम समय उदयविच्छिन्न होती है।

देवगति—इस मार्गणा में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। नरकत्रिक, तिर्यंचत्रिक, मनुष्यत्रिक, जातिचतुष्क, औदारिकद्विक, आहारकद्विक, संघयणषट्क, न्यग्रोधपरिमण्डलादि पांच संस्थान, अशुभ विहायोगति, आतप,

उद्योत, जिन नाम, स्थावरचतुष्क, दुःस्वर, नपुंसक वेद और नीच गोत्र और स्त्यानर्द्धित्रिक इन ४२ प्रकृतियों के सिवाय ओघ से देवों के ८० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। यहाँ उत्तर वैक्रिय शरीर करने की अपेक्षा देवों के उद्योत नामकर्म का उदय संभव है, परन्तु भवप्रत्यय शरीर निमित्तक उद्योत का उदय विवक्षित होने से दोष नहीं है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिश्र व सम्यक्त्व मोहनीय का अनुदय होने से ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। मिथ्यात्व का विच्छेद हो जाने से सास्वादन में ७७ प्रकृतियाँ, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी —इन पाँच प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ७३ प्रकृतियाँ, मिश्र मोहनीय के कम करने तथा सम्यक्त्व मोहनीय और देवानुपूर्वी इन दो प्रकृतियों को जोड़ने पर अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।[1]

एकेन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय मार्गणा में आदि के दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रियजातिचतुष्क, आहारकद्विक, औदारिक अंगोपांग, आदि के पांच संस्थान, विहायोगतिद्विक, जिन नाम, त्रस, छह संघयण, दुःस्वर, सुस्वर, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, सुभग नाम, आदेय नाम—इन ४२ प्रकृतियों के विना सामान्यतः और मिथ्यात्व गुणस्थान में ८० प्रकृतियाँ होती हैं और वायुकाय को वैक्रिय शरीर नाम का उदय होने से एकेन्द्रिय मार्गणा में ८१ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सूक्ष्मत्रिक, आतप नाम, उद्योत नाम, मिथ्यात्व मोहनीय, पराघात नाम और श्वासोच्छ्वास नाम—इन आठ प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं; क्योंकि सास्वादन गुणस्थान एकेन्द्रिय पृथ्वी, अप् और वनस्पति को अपर्याप्त अवस्था में शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है और आतप नाम, उद्योत नाम, पराघात नाम और उच्छ्वास का उदय

१ गो० कर्मकांड में दुर्भग, अनादेय और अयशःकीर्ति इन तीन प्रकृतियों को देवगति में उदययोग्य नहीं माना है। अतः ७७ प्रकृतियाँ सामान्य से उदययोग्य हैं। गुणस्थानों में क्रमशः ७५, ७४, ७० और ७१ प्रकृतियों का उदय होता है।

—गो० कर्मकांड २

शरीर पर्याप्ति एवं श्वासोच्छ्‌वास पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद होता है। औपशमिक सम्यक्त्व का उद्‌वमन करने वाला सूक्ष्म एकेन्द्रिय, लब्धि अपर्याप्त और साधारण वनस्पति में उत्पन्न नहीं होता है, अतः उसके वहाँ सूक्ष्मत्रिक उदय में नहीं हैं।[1]

द्वीन्द्रिय जाति—एकेन्द्रिय के समान द्वीन्द्रिय के भी दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, मनुष्यत्रिक, उच्चगोत्र, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, द्वीन्द्रिय के बिना एकेन्द्रिय जातिचतुष्क, आहारकद्विक, आदि के पाँच संघयण, पाँच संस्थान, शुभ विहायोगति, जिननाम, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, सुभग, आदेय, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय—इन चालीस प्रकृतियों के उदय अयोग्य होने से सामान्यतः और मिथ्यात्व गुणस्थान में ८२ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं। उनमें से अपर्याप्त नाम, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात, अशुभ विहायोगति, उच्छ्‌वास, सुस्वर, दुःस्वर—इन आठ प्रकृतियों के बिना सास्वादन गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं, क्योंकि मिथ्यात्व मोहनीय का उदय तो वहाँ होता नहीं है और उसके सिवाय शेष प्रकृतियों का उदय शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद ही होता है और सास्वादन तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले ही होता है।

त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जाति इन दोनों मार्गणाओं में भी द्वीन्द्रिय के समान ही दो गुणस्थान होते हैं और उदयस्वामित्व भी उसके समान जानना चाहिए, किन्तु द्वीन्द्रिय के स्थान पर त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय समझना।[2]

पंचेन्द्रिय जाति—यहाँ चौदह गुणस्थान होते हैं। जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण और आतप इन आठ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११४

---

१ गो० कर्मकांड में सामान्य से पहले गुणस्थान में ८० व दूसरे गुणस्थान में ६९ (स्त्यानर्द्धित्रिक रहित) प्रकृतियों का उदय बताया है।

– गो० कर्मकांड ३०६-३०८

२ विकलेन्द्रियों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) में सामान्य से पहले गुणस्थान में ८१ व दूसरे में ७१ प्रकृतियों का उदय गो० कर्मकांड में बताया है।

—गो० कर्मकांड ३०६-३०८

प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व और मिथ्यात्व मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों को कम करने पर मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं तथा मिथ्यात्व मोहनीय, अपर्याप्त और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०६ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अनन्तानुबंधीचतुष्क और आनुपूर्वी-त्रिक इन सात प्रकृतियों के बिना और मिश्र मोहनीय को मिलाने से मिश्र गुण-स्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। मिश्र मोहनीय को कम करने और चार आनुपूर्वी तथा सम्यक्त्व मोहनीय को संयुक्त करने पर अविरत गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, दुर्भग, अनादेय और अयशकीर्ति इन १७ प्रकृ-तियों के सिवाय देशविरति गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं और छठे गुणस्थान से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियों का उदय-स्वामित्व समझना चाहिए।

पृथ्वीकाय—इस मार्गणा में एकेन्द्रिय की तरह दो गुणस्थान समझना चाहिए। एकेन्द्रिय मार्गणा में कही गई ४२ प्रकृतियाँ और साधारण नाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७९ प्रकृतियों का उदय होता है। सूक्ष्म, लब्धि-अपर्याप्त, आतप, उद्योत, मिथ्यात्व पराघात, श्वासोच्छ्वास इन सात प्रकृतियों के बिना सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सास्वादन गुणस्थान करण-अपर्याप्त पृथ्वीकायादि को होता है, किन्तु लब्धि-अपर्याप्त को नहीं होता है।

अप्काय—पृथ्वीकाय के समान यहाँ भी दो गुणस्थान होते हैं। पृथ्वीकाय मार्गणा में कही गई ४३ प्रकृतियाँ और आतप नाम के सिवाय सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७८ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें सूक्ष्म, अपर्याप्त, उद्योत, मिथ्यात्व, पराघात और उच्छ्वास इन छह प्रकृतियों के अलावा सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ होती हैं। क्योंकि सूक्ष्म, एकेन्द्रिय और लब्धि-अपर्याप्त में सम्यक्त्व का उद्वमन करने वाला कोई जीव उत्पन्न नहीं होता है। अतएव सास्वादन गुणस्थान में सूक्ष्म और अपर्याप्त नाम का उदय

नहीं होता है। शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद उद्योत नाम और पराघात नाम का उदय होता है। श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति पूर्ण होने के अनन्तर श्वासोच्छ्वास का उदय होता है और मिथ्यात्व मोह का उदय यहाँ होता नहीं है।

तेजस्काय, वायुकाय—इनमें पहला गुणस्थान होता है। तेजस्काय में अप्काय की ४४ तथा उद्योत और यशःकीर्ति इन ४६ प्रकृतियों के सिवाय ७६ प्रकृतियों का तथा वायुकाय में वैक्रिय शरीर सहित ७७ प्रकृतियों का उदय होता है

वनस्पतिकाय—इस मार्गणा में दो गुणस्थान होते हैं। एकेन्द्रिय मार्गणा में कही गई ४२ प्रकृतियों और आतप नाम के अतिरिक्त सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ७९ और सास्वादन गुणस्थान में ७२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

त्रसकाय—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। उसमें स्थावर, सूक्ष्म, साधारण आतप और एकेन्द्रिय जाति इन पाँच प्रकृतियों के अलावा सामान्य से ११७ व आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से मिथ्यात्व, अपर्याप्त, और नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों को कम करने से सास्वादन गुणस्थान में १०९ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, विकलेन्द्रियत्रिक और आनुपूर्वीत्रिक—इन दस प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों को मिलाने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। देशविरति आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयाधिकार में कहा गया ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२ और १२ प्रकृतियों का उदय क्रमशः समझना चाहिए।

मनोयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाँच प्रकृतियों के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ,

मिथ्यात्व से रहित सास्वादन में १०३, अनन्तानुवन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० तथा मिश्र मोह-नीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय को जोड़ने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायुष, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय देशविरति गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। शेष रहे गुणस्थानों में मनुष्यगति मार्गणा के समान उदय समझना चाहिए।

वचनयोग—यहाँ तेरह गुणस्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, एकेन्द्रिय जाति, आतप और आनुपूर्वीचतुष्क—इन दस प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११२, आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र—इन पाँच प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, मिथ्यात्व मोहनीय और विकलेन्द्रिय-त्रिक इन चार प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन गुणस्थान में १०३ प्रकृतियाँ होती हैं। यद्यपि विकलेन्द्रिय को वचनयोग होता है, परन्तु भाषापर्याप्ति पूर्ण होने के वाद ही होता है और सास्वादन तो शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के पहले होता है। इसलिए इस मार्गणा में सास्वादन गुणस्थान में वचनयोग नहीं होता है। अतएव विकलेन्द्रियत्रिक निकाल दिया है। उसमें से अनन्तानु-वन्धीचतुष्क को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में सौ प्रकृतियाँ उदय में होती है। अविरति से लेकर आगे के गुणस्थानों में मनोयोग मार्गणा के समान समझना चाहिए।

काययोग—इस मार्गणा में तेरह गुणस्थान होते हैं। इसमें सामान्य से १२२, मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७, सास्वादन में १११ इत्यादि सामान्य उदयाधिकार के कही प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

पुरुषवेद—इसमें नौ गुणस्थान होते हैं। नरकत्रिक, जातिचतुष्क, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप, अपर्याप्त, जिन नाम, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद इन १५ प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०७ प्रकृतियों का उदय होता है। उनमें से आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र इन चार प्रकृतियों के अलावा मिथ्यात्व गुणस्थान में १०३ प्रकृतियाँ, मिथ्यात्व प्रकृति के विना सास्वादन में १०२, उनमें से अनन्तानुवन्धीचतुष्क और आनुपूर्वी-

त्रिक—इन सात प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को जोड़ने से मिश्र गुणस्थान में ६६ प्रकृतियाँ और उनमें से मिश्र मोहनीय को निकाल कर सम्यक्त्व तथा आनुपूर्वीत्रिक—इन चार प्रकृतियों को जोड़ने से अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ६६ प्रकृतियाँ होती हैं। आनुपूर्वीत्रिक, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, देवगति, देवायुष, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश इन १४ प्रकृतियों के बिना देशविरति गुणस्थान में ८५ प्रकृतियाँ होती हैं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क, तिर्यंचगति, तिर्यचायुष, उद्योत और नीचगोत्र—इन आठ प्रकृतियों को कम करके आहारकद्विक को मिलाने से प्रमत्त गुणस्थान में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं। उनमें से स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्व मोहनीय और अंतिम तीन संघयण—इन चार प्रकृतियों के बिना अपूर्वकरण गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ होती हैं और हास्यादि छह प्रकृतियों के बिना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६४ प्रकृतियाँ होती हैं।

स्त्रीवेद—इसमें भी पुरुषवेद के समान नौ गुणस्थान होते हैं और यहाँ सामान्य से तथा प्रमत्त गुणस्थान में आहारकद्विक के बिना तथा चौथे गुणस्थान में आनुपूर्वीत्रिक के सिवाय शेष रही प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए। क्योंकि प्रायः स्त्रीवेदी के परभव में जाते समय चतुर्थ गुणस्थान नहीं होता है। अतः आनुपूर्वीत्रिक का उदय नहीं होता है और स्त्री चतुर्दश पूर्वधर नहीं होती है। इसलिए उसे आहारकद्विक का भी उदय नहीं होता है। अतः सामान्य से तथा नौ गुणस्थानों में अनुक्रम से १०५, १०३, १०२, ६६, ६६, ८५, ७७, ७४, ७० और ६४ इस प्रकार उदय समझना चाहिए।

नपुंसकवेद—इसमें भी नौ गुणस्थान होते हैं। इसमें देवत्रिक, जिन नाम, स्त्रीवेद और पुरुषवेद, आहारकद्विक इन ८ प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११४, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११२ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों को कम करने पर सास्वादन गुणस्थान में १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, स्थावर और जातिचतुष्क इन ११ प्रकृतियों के कम करने और

मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ६६ प्रकृतियाँ और मिश्र मोहनीय के क्षय व सम्यक्त्व व नरकानुपूर्वी के उदययोग्य होने के अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ६७ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। उनमें से अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, नरकत्रिक, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश – इन बारह प्रकृतियों के विना देशविरति गुणस्थान में ८५ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायुष, नीचगोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क— इन आठ प्रकृतियों को कम करने से ७७ प्रकृतियां प्रमत्त गुणस्थान में होती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक,—इन तीन प्रकृतियों के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ, सम्यक्त्व मोहनीय और अंतिम तीन संघयण—इन चार प्रकृतियों के विना अपूर्वकरण गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ और हास्यादिषट्क के विना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

क्रोध—यहाँ नौ गुणस्थान होते हैं। मान—४, माया—४, लोभ—४, और जिन नाम—इन तेरह प्रकृतियों के विना सामान्य से १०६, सम्यक्त्व, मिश्र और आहारकद्विक—इन ४ प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों के विना सास्वादन में ६६ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। अनन्तानुवन्धी क्रोध, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ६१ प्रकृतियाँ, उनमें से मिश्र मोहनीय को कम करने और सम्यक्त्व मोहनीय तथा आनुपूर्वीचतुष्क को मिलाने पर अविरत गुणस्थान में ६५ प्रकृतियाँ, उनमें से अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, आनुपूर्वीचतुष्क, देवगति, देवायुष, नरकगति, नरकायुष, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियों के विना देशविरति गुणस्थान में ८१ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायुष, उद्योत, नीचगोत्र और प्रत्याख्यानावरण क्रोध—इन पाँच प्रकृतियों के न्यून करने और आहारकद्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान में ७८ प्रकृतियाँ होती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के कम करने पर अप्रमत्त गुणस्थान में ७३ प्रकृतियां, सम्यक्त्व मोहनीय और अन्तिम तीन सहनन—इन चार प्रकृतियों के विना अपूर्वकरण गुणस्थान में ६९ और हास्यादिषट्क विना अनिवृत्ति गुणस्थान में ६३ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

मान, माया और लोभ—यहाँ उदयस्वामित्व पूर्ववत् समझना चाहिए। परन्तु मान और माया कषाय मार्गणा में नौ गुणस्थान होते हैं। इसी प्रकार अपने सिवाय अन्य तीन कषायों की बारह प्रकृतियाँ भी कम करनी चाहिए। जैसे कि मान मार्गणा में अन्य तीन कषाय के अनन्तानुबन्धी आदि बारह भेद और जिन नाम—इन तेरह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०९ प्रकृतियां उदय में होती हैं। इसीप्रकार अन्य कषायों के लिए भी समझना चाहिए। लोभ मार्गणा में दसवें गुणस्थान में तीन वेदों के कम करने पर ६० प्रकृतियां उदय में होती हैं।

मति, श्रुत और अवधि ज्ञान—यहाँ चौथे से लेकर बारहवें तक नौ गुणस्थान होते हैं। सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। आहारकद्विक के सिवाय अविरति गुणस्थान में १०४ और देशविरति आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयाधिकार के अनुसार ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यायज्ञान—इस मार्गणा में प्रमत्त गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सात गुणस्थान होते हैं, इसलिए सामान्य से ८१ और प्रमत्तादि गुणस्थानों में ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९ और ५७ प्रकृतियाँ उदय में समझनी चाहिए।

केवलज्ञान—इस मार्गणा में तेरहवाँ और चौदहवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। उनमें सामान्यतः ४२ और १२ प्रकृतियाँ अनुक्रम से समझना चाहिए।

मति अज्ञान और श्रुत अज्ञान—यहाँ आदि के तीन गुणस्थान समझना चाहिए। आहारकद्विक, जिन नाम और सम्यक्त्व मोहनीय के बिना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ११८, सास्वादन गुणस्थान में १११ और मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

विभंग ज्ञान—यहाँ भी पूर्व कथनानुसार तीन गुणस्थान होते हैं। आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व, स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, आतप, मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी इन पन्द्रह प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से १०७ प्रकृतियां उदययोग्य होती हैं। मनुष्य और तिर्यंच में विग्रहगति से विभंग ज्ञान सहित नहीं उपजता है, ऋजुगति से उपजता है, अतएव यहाँ मनुष्यानुपूर्वी और तिर्यंचानुपूर्वी का निषेध किया है। मिथ्यात्व गुणस्थान में मिश्र मोहनीय के सिवाय १०६

प्रकृतियाँ, सास्वादन में मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी के विना १०४ प्रकृतियाँ, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और देवानुपूर्वी को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्रगुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

सामायिक और छेदोपस्थापनीय संयम—इन दोनों चारित्रों में प्रमत्त से लेकर चार गुणस्थान होते हैं। उनमें ८१, ७६, ७२ और ६६ प्रकृतियों का क्रमशः उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—यहाँ छठा और सातवाँ ये दो गुणस्थान होते हैं। इनमें पूर्वोक्त ८१ प्रकृतियों में से आहारकद्विक, स्त्रीवेद, प्रथम संहनन के सिवाय शेप पाँच संहनन—इन आठ प्रकृतियों के विना सामान्य से और प्रमत्त में ७३ प्रकृतियाँ होती हैं। परिहारविशुद्धि चारित्र वाला चतुर्दश पूर्वधर नहीं होता है तथा स्त्री को परिहारविशुद्धि चारित्र नहीं होता है और ऋषभनाराच संहनन वाले को ही परिहारविशुद्धि चारित्र होता है, इसीलिए यहाँ पूर्वोक्त आठ प्रकृतियों के उदय का निषेध किया है। स्त्यानर्द्धित्रिक के सिवाय अप्रमत्त गुणस्थान में ७० प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।[1]

सूक्ष्मसंपराय—यहाँ एक दसवाँ सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान होता है। और सामान्यतः ६० प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

यथाख्यात—यहाँ अन्त के ११, १२, १३ और १४ ये चार गुणस्थान होते हैं। उनमें उपशान्त मोह में ५९, ऋषभनाराच और नाराच इन दो संहनन के सिवाय क्षीणमोह के द्विचरम समय में ५७, निद्राद्विक के विना अन्तिम समय में ५५, सयोगि केवली गुणस्थान में ४२ और अयोगि केवली गुणस्थान में १२ प्रकृतियों का उदय होता है।

देशविरति—यहाँ पाँचवाँ एक ही गुणस्थान होता है और उसमें सामान्य से ८७ प्रकृतियों का उदय जानना चाहिए।

अविरति—इस मार्गणा में प्रथम चार गुणस्थान होते हैं। इसमें जिन नाम और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों के सिवाय सामान्य से ११९

---

१ दिगम्बराचार्यों ने ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य मानी हैं और छठे गुणस्थान में क्रमशः ७७, ७४ प्रकृतियों का उदय कहा है।

सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय—इन दो प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व में ११७, सूक्ष्मत्रिक, आतप, मिथ्यात्व और नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों के विना सास्वादन में १११, अनन्तानुवन्धीचतुष्क, स्थावर, जातिचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक—इन वारह प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं, उनमें आनुपूर्वीचतुष्क और सम्यक्त्व मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों के मिलाने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

चक्षुदर्शन—यहाँ वारह गुणस्थान होते हैं। जातित्रिक, स्थावरचतुष्क, जिन नाम, आतप, आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेरह प्रकृतियों के विना सामान्य से १०९, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, मिथ्यात्व के विना सास्वादन में १०४, अनन्तानुवन्धीचतुष्क और चतुरिन्द्रिय जाति—इन पाँच प्रकृतियों के विना और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में १०० तथा अविरतसम्यग्दृष्टि में १००, देशविरति आदि गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अचक्षुदर्शन—इस मार्गणा में भी वारह गुणस्थान होते हैं। इसमें जिन नाम के विना सामान्य से १२१, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ होती हैं। शेष गुणस्थानों में क्रमशः १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५ और ५७ का उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ चौथे से लेकर वारहवें गुणस्थान तक नौ गुणस्थान होते हैं। सिद्धान्त के मतानुसार विभंगज्ञानी को भी अवधिदर्शन कहा है अतएव उसके मत में आदि के तीन गुणस्थान भी होते हैं। परन्तु कर्मग्रन्थ के मत से विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन नहीं होता है। अतएव अवधिज्ञान के समान सामान्य से १०६ व अविरति गुणस्थान में १०४ प्रकृतियाँ होती है आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—यहाँ अन्तिम दो गुणस्थान होते हैं और उनमें ४२ तथा १२ प्रकृतियों का अनुक्रम से उदय समझना चाहिए।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्या—यहाँ पूर्वप्रतिपन्न की अपेक्षा प्रथम से लेकर छह गुणस्थान होते हैं। जिन नाम के विना सामान्य से १२१ प्रकृतियाँ होती हैं, परन्तु प्रतिपद्यमान की अपेक्षा आदि के चार गुणस्थान होते हैं। उस अपेक्षा से आहारकद्विक के विना सामान्य से ११९ प्रकृतियाँ होती हैं और मिथ्यात्वादि गुणस्थानों में अनुक्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७ और ८१ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

तेजोलेश्या—इसमें पहले से लेकर अप्रमत्त तक सात गुणस्थान होते हैं। इसमें सूक्ष्मत्रिक, विकलत्रिक, नरकत्रिक, आतप नाम और जिन नाम इन ग्यारह प्रकृतियों के विना सामान्य से १११, आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय के सिवाय मिथ्यात्व गुणस्थान में १०७, मिथ्यात्व के विना सास्वादन में १०६, अनन्तानुवन्धीचतुष्क, स्थावर नाम, एकेन्द्रिय और आनुपूर्वीत्रिक—इन नौ प्रकृतियों के सिवाय और मिश्र मोहनीय के मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में ९८, आनुपूर्वीत्रिक और सम्यक्त्व मोहनीय का प्रक्षेप करने और मिश्र मोहनीय को कम करने पर अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में १०१, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायुष, दुर्भग नाम, अनादेय और अयश इन चौदह प्रकृतियों के विना देशविरति गुणस्थान में ८७, प्रमत्त गुणस्थान में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं।

पद्मलेश्या—इसमें सात गुणस्थान होते हैं। इसमें स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, नरकत्रिक, जिन नाम और आतप इन तेरह प्रकृतियों के विना सामान्य से १०९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं। सनत्कुमार, माहेन्द्र और ब्रह्मलोक के देवों के पद्मलेश्या होती है और वे मरकर एकेन्द्रिय में नहीं जाते हैं, तथा नरक में पहली तीन लेश्याएं होती हैं और जिन नाम का उदय शुक्ललेश्या वाले को ही होता है। अतएव स्थावरचतुष्क आदि तेरह प्रकृतियों का विच्छेद कहा है। आहारकद्विक, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन चार प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व गुणस्थान में १०५, सास्वादन में मिथ्यात्व के विना १०४, अनन्तानुवन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक इन सात प्रकृतियों के कम करने और मिश्रमोहनीय को मिलाने पर ९८ प्रकृतियाँ मिश्र गुणस्थान में होती हैं। उनमें से मिश्रमोहनीय को कम करके और आनुपूर्वी [illegible]

सम्यक्त्व मोहनीय को मिलाने से १०१ प्रकृतियाँ अविरति गुणस्थान में होती हैं। उनमें से अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, आनुपूर्वीत्रिक, देवगति, देवायुप, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियों के विना देश-विरति गुणस्थान में ८७, प्रमत्त में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियाँ होती हैं।

शुक्ललेश्या—इसमें तेरह गुणस्थान हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, नरकत्रिक और आतप नाम— इन बारह प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११० प्रकृतियाँ होती हैं। आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र और जिन नाम इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में १०५ प्रकृतियाँ होती हैं। मिथ्यात्व के विना सास्वादन में १०४, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक को कम करके मिश्र मोहनीय को मिलाने से मिश्र गुणस्थान में ९८, अविरति गुणस्थान में १०१ और देशविरति में ८७ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुण-स्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

भव्य—यहाँ चौदह गुणस्थान होते हैं और उनमें सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—इसमें सिर्फ पहला गुणस्थान होता है। सम्यक्त्व, मिश्र, जिन नाम और आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के विना सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में ११७ प्रकृतियाँ होती हैं।

उपशम सम्यक्त्व—इस मार्गणा में चौथे से लेकर ग्यारहवें तक आठ गुण-स्थान होते हैं। स्थावरचतुष्क, जातिचतुष्क, अनन्तानुबन्धीचतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय, जिन नाम, आहारकद्विक, आतप नाम और आनुपूर्वीचतुष्क—इन तेईस प्रकृतियों के विना सामान्य से और अविरति गुणस्थान में ९९ प्रकृतियां होती हैं। अन्य आचार्य के मत मे उपशम सम्यग्दृष्टि आयु पूर्ण होने से मर कर अनुत्तर देवलोक तक उत्पन्न होता है, तो उस समय उसे अविरत गुणस्थान में देवानुपूर्वी का उदय होता है, इस अपेक्षा सामान्य से और अविरति गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं। अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, देवगति, देवानुपूर्वी, देवायु, नरकगति, नरकायुप, वैक्रियद्विक, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन चौदह प्रकृतियों के विना देश-

विरति गुणस्थान में ८५ या ८६ प्रकृतियाँ होती हैं। तिर्यंचगति, तिर्यंचायु, नीच गोत्र, उद्योत और प्रत्याख्यानावरणचतुष्क इन आठ प्रकृतियों के विना प्रमत्त गुणस्थान में ७८, स्त्यानर्द्धित्रिक के विना अप्रमत्त गुणस्थान में ७५ और अन्तिम तीन संघयण के विना अपूर्वकरण में ७२ प्रकृतियाँ होती हैं और उसके वाद आगे के गुणस्थानों में अनुक्रम से ६६, ६०, ५९ प्रकृतियाँ उदय में होती हैं।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ चौथे से लेकर चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, अनन्तानुवन्धीचतुष्क, आतप, सम्यक्त्व, मिश्र, मिथ्यात्व इन १६ प्रकृतियों के विना सामान्य से १०६, आहारकद्विक और जिन नाम इन तीन प्रकृतियों के विना अविरति गुणस्थान में १०३, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियाष्टक, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यचत्रिक, दुर्भग, अनादेय, अयश और उद्योत—इन २० प्रकृतियों के विना देशविरति गुणस्थान में ८३ प्रकृतियाँ होती हैं। प्रत्याख्यानावरणचतुष्क व नीच गोत्र को कम करके आहारकद्विक के मिलाने पर प्रमत्त गुणस्थान में ८० प्रकृतियाँ होती हैं। स्त्यानर्द्धित्रिक, आहारकद्विक—इन पाँच प्रकृतियों के विना अप्रमत्त गुणस्थान में ७५, अपूर्वकरण में अन्तिम तीन संहनन कम करने से ७२ तथा आगे गुणस्थानों में उदय के समान उदय समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमें चौथे से लेकर सातवें तक चार गुणस्थान होते हैं। मिथ्यात्व, मिश्र, जिन नाम, जातिचतुष्क, स्थावरचतुष्क, आतप और अनन्तानुवन्धीचतुष्क इन सोलह प्रकृतियों के विना सामान्य से १०६, आहारकद्विक के विना अविरति गुणस्थान में १०४, देशविरति गुणस्थान में ८७, प्रमत्त में ८१ और अप्रमत्त में ७६ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

मिश्र सम्यक्त्व—इसमें एक तीसरा मिश्र गुणस्थान होता है और उसमें १०० प्रकृतियों का उदय होता है।

सास्वादन—यहाँ सिर्फ दूसरा सास्वादन गुणस्थान होता है और उसमें १११ प्रकृतियों का उदय समझना चाहिए।

मिथ्यात्व—इसमें प्रथम गुणस्थान होता है और उसमें आहारकद्विक, जिन नाम, सम्यक्त्व और मिश्र इन पाँच प्रकृतियों के विना ११७ प्रकृ॰ होती हैं।

संज्ञी—इसमें चौदह गुणस्थान होते हैं। द्रव्यमन के सम्बन्ध से केवलज्ञानी को संज्ञी कहा है, अतः उसे चौदह गुणस्थान होते हैं। परन्तु यदि मतिज्ञानावरण के क्षयोपशमजन्य मनन परिणाम रूप भावमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहें तो इस मार्गणा में बारह गुणस्थान होते हैं। इसमें स्थावर, सूक्ष्म, साधारण, आतप और जातिचतुष्क—इन आठ प्रकृतियों के बिना सामान्य से ११४ प्रकृतियाँ होती हैं। यदि भावमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहें तो संज्ञी मार्गणा में जिन नाम का उदय न होने से उसे कम करने पर ११३ प्रकृतियाँ होती हैं। आहारकद्विक, सम्यक्त्व और मिश्र—इन चार प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व में १०९, अपर्याप्त नाम, मिथ्यात्व, नरकानुपूर्वी—इन तीन प्रकृतियों के बिना सास्वादन में १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। अनन्तानुबन्धीचतुष्क और आनुपूर्वीत्रिक – इन सात प्रकृतियों के सिवाय और मिश्र मोहनीय के मिलने पर मिश्र गुणस्थान में १०० प्रकृतियाँ होती हैं और अविरति आदि आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

असंज्ञी—इसमें आदि के दो गुणस्थान होते हैं। वैक्रियाष्टक, जिन नाम, आहारकद्विक, सम्यक्त्व, मिश्र मोहनीय, उच्च गोत्र, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन सोलह प्रकृतियों के बिना सामान्य से १०६ प्रकृतियाँ होती हैं। उसमें से सूक्ष्मत्रिक, आतप, उद्योत, मनुष्यत्रिक, मिथ्यात्व, पराघात, उच्छ्वास, सुस्वर, दुःस्वर, शुभ विहायोगति और अशुभ विहायोगति—इन पन्द्रह प्रकृतियों के बिना सास्वादन में ९१ प्रकृतियाँ होती हैं। सप्तति में उदय स्थानक में असंज्ञी को छह संघयण और छह संस्थान के भांगे दिये हैं, इसलिए उसे छह संघयण और छह संस्थान तथा सुभग, आदेय और शुभ विहायोगति का भी उदय होता है।

आहारक—इसमें तेरह गुणस्थान होते हैं। आनुपूर्वीचतुष्क के बिना सामान्य से ११८, आहारकद्विक, जिननाम, सम्यक्त्व मोहनीय और मिश्र मोहनीय—इन पाँच प्रकृतियों के बिना मिथ्यात्व गुणस्थान में ११३, सूक्ष्मत्रिक, आतप और मिथ्यात्व इन पाँच प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन में १०८, उनमें से अनन्तानुबन्धीचतुष्क, स्थावर नाम और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियों को कम करने और मिश्र मोहनीय को मिलाने पर मिश्र गुणस्थान में

१००, उनमें से मिश्र मोहनीय को निकाल कर वदले में सम्यक्त्व मोहनीय को जोड़ने से अविरति गुणस्थान में १००, अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, वैक्रियद्विक, देवगति, देवायु, नरकगति, नरकायु, दुर्भग, अनादेय और अयश—इन तेरह प्रकृतियों के विना देशविरति गुणस्थान में ८७ प्रकृतियाँ होती हैं। आगे के गुणस्थानों में सामान्य उदयस्वामित्व समझना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा में १, २, ४, १३ और १४—ये पाँच गुणस्थान होते हैं। औदारिकद्विक, वैक्रियद्विक, आहारकद्विक, संहननषट्क, संस्थानषट्क, विहायोगतिद्विक, उपघात, पराघात, उच्छ्‌वास, आतप, उद्योत, प्रत्येक, साधारण, सुस्वर, दुःस्वर, मिश्र मोहनीय और निद्रापंचक—इन ३५ प्रकृतियों के विना सामान्य से ८७, जिन नाम और सम्यक्त्व मोहनीय—इन दो प्रकृतियों के विना मिथ्यात्व में ८५, सूक्ष्म, अपर्याप्त, मिथ्यात्व और नरकत्रिक—इन छह प्रकृतियों के सिवाय सास्वादन में ७९ प्रकृतियाँ होती हैं। मिश्र गुणस्थान में कोई अनाहारक नहीं होता है। अनन्तानुवन्धीचतुष्क, स्थावर और जातिचतुष्क—इन नौ प्रकृतियों के विना और सम्यक्त्व मोहनीय तथा नरकत्रिक इन चार प्रकृतियों को मिलाने पर अविरति गुणस्थान में ७४ प्रकृतियाँ होती हैं। वर्णचतुष्क, तैजस, कार्मण, अगुरुलघु, निर्माण, स्थिर, अस्थिर, शुभ, अशुभ, मनुष्यगति, पंचेन्द्रिय जाति, जिन नाम, त्रसत्रिक, सुभग, आदेय, यश, मनुष्यायु, वेदनीयद्विक और उच्च गोत्र—ये पच्चीस प्रकृतियाँ तेरहवें सयोगि केवलि गुणस्थान में केवलि समुद्‌घात करने पर तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में उदय होती हैं। त्रसत्रिक, मनुष्यगति, मनुष्यायु, उच्चगोत्र, जिन नाम, साता अथवा असाता में से कोई एक वेदनीय, सुभग, आदेय, यश और पंचेन्द्रिय जाति—ये वारह प्रकृतियाँ चौदहवें गुणस्थान में उदय में होती हैं। यहाँ सर्वत्र उदय में उत्तर वैक्रिय की विवक्षा नहीं की है। सिद्धान्त में पृथ्वी, अप् और वनस्पति को सास्वादन गुणस्थान नहीं वताया है, सास्वादन गुणस्थान वाले को मतिश्रुत ज्ञानी कहा है। विभंगज्ञानी को अवधिदर्शन कहा है और वैक्रियमिश्र तथा आहारकमिश्र में औदारिकमिश्र कहा है, परन्तु वह कर्मग्रन्थ में विवक्षित नहीं है।

उदीरणास्वामित्व

उदय समय से लेकर एक आवलिका तक के काल को उदयावलिका कहते हैं। उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म पुद्गल को कोई भी करण लागू नहीं पड़ता है। उदयावलिका के बाहर रहे हुए कर्म पुद्गल को उदयावलिका के कर्म पुद्गल के साथ मिलाकर भोगने को उदीरणा कहते हैं। जिस जाति के कर्मों का उदय हो, उसी जाति के कर्मों की उदीरणा होती है। इसलिए सामान्य रीति से जिस मार्गणा में जिस गुणस्थान में जितनी कर्म प्रकृतियों का उदय होता है, उस मार्गणा में उस गुणस्थान में उतनी प्रकृतियों की उदीरणा भी होती है, परन्तु इतना विशेष है कि जिस प्रकृति को भोगते हुए उसकी सत्ता में मात्र एक आवलिका काल में भोगने योग्य कर्मपुद्गल शेष रहें, तब उसकी उदीरणा नहीं होती हैं, अर्थात् उदयावलिका में प्रविष्ट कर्म उदीरणा योग्य नहीं रहता तथा शरीर पर्याप्ति पूर्ण होने के बाद जबतक इन्द्रिय पर्याप्ति पूर्ण न हो, तबतक पाँच निद्राओं की उदीरणा नहीं होती, उदय रहता है। छठे गुणस्थान से आगे मनुष्यायु, साता और असाता वेदनीय कर्म की तद्योग्य अध्यवसाय के अभाव में उदीरणा नहीं होती है, उदय ही होता है तथा चौदहवें गुणस्थान में योग के अभाव में किसी भी प्रकृति की उदीरणा नहीं होती है, सिर्फ उदय ही होता है।

सत्तास्वामित्व

उदय-उदीरणा-स्वामित्व के अनन्तर ६२ उत्तर मार्गणाओं में प्रकृतियों की सत्ता का कथन करते हैं। सत्ताधिकार में १४८ प्रकृतियाँ विवक्षित हैं।

नरकगति और देवगति—इन दोनों मार्गणाओं में एक दूसरे के देवायु और नरकायु के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्योंकि नरकगति में देवायु की और देवगति में नरकायु की सत्ता नहीं होती है। मिथ्यात्व गुणस्थान में देवगति में जिन नाम की सत्ता नहीं होती है, परन्तु नरकगति में होती है, इसलिए देवगति में मिथ्यात्व गुणस्थान में १४६ और नरकगति में १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जिन नाम के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है। अविरति गुणस्थान में क्षायिक

सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीचतुष्क, सम्यक्त्व मोहनीय, मिश्र मोहनीय, मिथ्यात्व मोहनीय और दो आयु—इन नौ प्रकृतियों के बिना १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है। औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के एक आयु के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्योंकि नारकों के देवायु और देवों के नरकायु सत्ता में नहीं होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि के तिर्यंचायु भी सत्ता में नहीं होती है।

मनुष्यगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। दूसरे और तीसरे गुणस्थान में जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि (अचरम शरीरी) चारित्रमोह के उपशमक को तिर्यंचायु, नरकायु, अनन्तानुबन्धीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रिक—इन नौ प्रकृतियों के बिना १३९ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं और चरमशरीरी चारित्रमोह के उपशमक उपशम सम्यग्दृष्टि को अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करने के बाद तीन आयु के सिवाय १४१ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि भविष्य में क्षपक-श्रेणि का प्रारम्भ करने वाले चरम शरीरी को नरकायु, तिर्यंचायु और देवायु —इन तीन प्रकृतियों के सिवाय १४५ की सत्ता होती है और अनन्तानुबन्धी-चतुष्क तथा दर्शनमोहनीयत्रिक—इन सात प्रकृतियों का क्षय करने के बाद १३८ प्रकृतियों की सत्ता होती है। भविष्य में उपशम श्रेणि के प्रारम्भक उपशम सम्यग्दृष्टि (अचरम शरीरी) को नरक और तिर्यंच आयु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की और अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करने के बाद १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

देशविरति, प्रमत्त और अप्रमत्त—इन तीन गुणस्थानों में उपशम श्रेणि और क्षपक श्रेणि का आश्रय लेने वाले के चौथे गुणस्थान जैसी सत्ता होती है।

अपूर्वकरण गुणस्थान में चारित्रमोह के उपशमक उपशम सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यंचायु और नरकायु—इन छह प्रकृतियों के बिना १४२ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। चारित्रमोह के उपशमक क्षायिक

के दर्शनसप्तक, नरकायु और तिर्यचायु के विना १३९ प्रकृतियों की सत्ता होती है और क्षपक श्रेणि के पूर्व में कहे गये अनुसार सत्ता होती है।

अनिवृत्यादि गुणस्थान में दूसरे कर्मग्रन्थ में कहे गये सत्ताधिकार के समान यहाँ भी समझ लेना चाहिए।

तिर्यंचगति—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र गुणस्थान में जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। अविरति गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि को दर्शनसप्तक, नरकायुष और मनुष्यायुष के सिवाय १३८ और उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि को जिननाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

देशविरति गुणस्थान में औपशमिक और क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है। क्षायिक सम्यग्दृष्टि तिर्यच असंख्यात वर्ष के आयुष वाला होता है और उसको देशविरति गुणस्थान नहीं होता है।

एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय—इन चार मार्गणाओं (एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय जाति) में सामान्य से और मिथ्यात्व, सास्वादन गुणस्थान में जिन नाम, देवायु और नरकायु के सिवाय १४५ प्रकृतियों की सत्ता होती है। परन्तु सास्वादन गुणस्थान में आयु का वन्ध नहीं होने की अपेक्षा से मनुष्यायु के सिवाय १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

पंचेन्द्रिय—इस मार्गणा में मनुष्यगति के अनुसार सत्ता समझना चाहिए।

पृथ्वी, अप् और वनस्पति काय—इन तीन मार्गणाओं में एकेन्द्रिय मार्गणा के समान सत्ता समझना चाहिए।

तेजस्काय और वायुकाय—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन नाम, देव, मनुष्य और नरकायु—इन चार प्रकृतियों के विना १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

त्रसकाय—यहाँ मनुष्यगति प्रमाण सत्ता समझना चाहिए।

मनोयोग, वचनयोग और काययोग—इन तीन मार्गणाओं में मनुष्यगति मार्गणा की तरह तेरह गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिए।

तीन वेद, क्रोध, मान, माया—इनमें मनुष्यगतिमार्गणा की तरह नौ गुणस्थान तक सत्ता समझना चाहिये।

लोभ—यहाँ मनुष्यगति के समान दस गुणस्थान तक सत्ता समझना।

मतिज्ञान, श्रुतज्ञान और अवधिज्ञान—इन तीन मार्गणाओं में मनुष्यगति-मार्गणा के समान चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मनःपर्यवज्ञान—यहाँ सामान्य से तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है और छठे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति मार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

केवलज्ञान—यहाँ मनुष्यगति के समान अन्तिम दो गुणस्थानों में कहा गया सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

मत्यज्ञान, श्रुताज्ञान और विभंगज्ञान—इनमें सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ और दूसरे, तीसरे गुणस्थान में जिन नाम के बिना १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

सामायिक और छेदोपस्थानीय—इन दो मार्गणाओं में सामान्य से १४८ प्रकृतियों की सत्ता होती है और इनमें छठे गुणस्थान से लेकर नौवें गुणस्थान तक मनःपर्यवज्ञानमार्गणा के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

परिहारविशुद्धि—इसमें छठे और सातवें गुणस्थान में कहे गये अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

सूक्ष्मसंपराय—इसमें सामान्य से तिर्यंचायु और नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है अथवा अनन्तानुबन्धीचतुष्क की विसंयोजना करने वाले को अनन्तानुबन्धीचतुष्क, तिर्यंचायुष और नरकायुष इन छह प्रकृतियों के सिवाय १४२ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

यथाख्यात—यहाँ ग्यारहवें से लेकर चौदहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगतिमार्गणा के समान समझना चाहिए।

देशविरति—यहाँ सामान्य से १४८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं। इसमें एक पाँचवाँ गुणस्थान होता है और इसमें मनुष्यगति के समान सत्तास्वा[illegible] समझना चाहिए।

अविरति—यहाँ पहले से चौथे गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति के समान समझना चाहिए।

चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन—इन दोनों मार्गणाओं में पहले से बारहवें गुणस्थान तक सत्तास्वामित्व मनुष्यगति के समान समझना चाहिए।

अवधिदर्शन—यहाँ अवधिज्ञान मार्गणा के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

केवलदर्शन—केवलज्ञान मार्गणा के सदृश सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

कृष्ण, नील और कापोत लेश्या—तीन मार्गणाओं में पहले से लेकर छ गुणस्थान तक मनुष्यगति के अनुसार सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

तेज और पद्म लेश्या—पहले से सातवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के सम सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

शुक्ललेश्या—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के सम सत्ता समझना चाहिए।

भव्य—मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझना चाहिए।

अभव्य—सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिननाम, आहार चतुष्क, सम्यक्त्व और मिश्र मोहनीय इस सात प्रकृतियों के बिना १ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

औपशमिक सम्यक्त्व—चौथे से ग्यारहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायोपशमिक सम्यक्त्व—इसमें चौथे से सातवें गुणस्थान तक मनुष्यग के समान सत्ता समझना चाहिए।

क्षायिक सम्यक्त्व—यहाँ अनन्तानुबंधीचतुष्क और दर्शनमोहनीयत्रि इन सात प्रकृतियों के बिना सामान्य से १४१ प्रकृतियों की सत्ता होती है औ चौथे से चौदहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्तास्वामित्व समझन चाहिए।

सास्वादन—यहाँ सामान्य से और दूसरे गुणस्थान में जिन नाम के बिन १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

मिथ्यात्व—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में १४८ प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं।

संज्ञी—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति के समान सत्ता-स्वामित्व जानना चाहिए। इसमें केवलज्ञानी को द्रव्यमन के सम्बन्ध से संज्ञी कहा है, यदि भावमन की अपेक्षा संज्ञी कहा जाय तो बारह गुणस्थान होते हैं।

असंज्ञी—यहाँ सामान्य से और मिथ्यात्व गुणस्थान में जिन नाम के सिवाय १४७ प्रकृतियों की सत्ता होती है और सास्वादन गुणस्थान में नरकायु के सिवाय १४६ प्रकृतियों की सत्ता होती है, परन्तु यहाँ अपर्याप्तावस्था में देवायु और मनुष्यायु का बंध करने वाला कोई संभव नहीं है, इसलिए उस अपेक्षा से १४४ प्रकृतियों की सत्ता होती है।

आहारक—पहले से लेकर तेरहवें गुणस्थान तक मनुष्यगति मार्गणा के समान सत्तास्वामित्व जानना चाहिए।

अनाहारक—इस मार्गणा में पहला, दूसरा, चौथा, तेरहवाँ और चौदहवाँ ये पाँच गुणस्थान होते हैं और उनमें मनुष्यगति के समान सत्ता जानना चाहिए।

इस प्रकार उदय, उदीरणा और सत्तास्वामित्व का विवेचन पूर्ण हुआ।

विशेष—

अपनी निकटतम जानकारी के अनुसार मार्गणाओं में उदय, उदीरणा एवं सत्ता स्वामित्व का विवरण प्रस्तुत किया है। संभवतः कोई त्रुटि या अस्पष्टता रह गई हो तो विज्ञ पाठकों से सानुरोध निवेदन है कि संशोधन कर सूचित करने की कृपा करें जिससे अपनी धारणा व त्रुटि का परिमार्जन कर सकें। उनके सहकार एवं मार्गदर्शन के लिये आभारी रहेंगे।

—सम्पादक

मार्गणाओं में बन्ध, उदय और सत्ता-स्वामित्व विषयक दिगम्बर कर्मसाहित्य का मन्तव्य

तृतीय कर्मग्रंथ में गुणस्थानों के आधार से मार्गणाओं में बंधस्वामित्व क कथन किया गया है। इसीप्रकार से गोम्मटसार कर्मकाण्ड में गाथा १०५ से १२१ तक में भी किया गया है तथा सामान्य से उसको जानने के लिए जि बातों की जानकारी आवश्यक है, उनका संकेत भी गाथा ९४ से १०४ में है

गुणस्थानों के आधार से मार्गणाओं में उदयस्वामित्व का विचार प्राची व नवीन तृतीय कर्मग्रन्थ में नहीं है, वह भी गो० कर्मकाण्ड में गा० २९ से ३३२ तक में किया गया है तथा इसके लिए आवश्यक संकेत गाथा २६३ २८९ तक में संगृहीत हैं। इस उदयस्वामित्व प्रकरण में उदीरणास्वामि का विचार भी सम्मिलित है। इसी प्रकार मार्गणाओं में सत्तास्वामित्व क विचार भी गो० कर्मकाण्ड में है, किन्तु कर्मग्रन्थ में नहीं। यह प्रकरण कर्म काण्ड में गाथा ३४६ से ३५६ तक है तथा इसके लिए सामान्य संकेत गाथ ३३३ से ३४५ में हैं।

कर्मशास्त्र के अध्येताओं को उक्त अंश तुलनात्मक अध्ययन करने ए विषयज्ञान की दृष्टि से उपयोगी होने से कतिपय आवश्यक अंश उद्धृत कि जाते हैं। पूर्ण विवरण के लिए गो० कर्मकाण्ड के उक्त अंशों को देख ले चाहिए।

बन्धस्वामित्व

गुणस्थानों पूर्वक मार्गणाओं में वंधस्वामित्व का विवेचन करने के लि गुणस्थानों में सामान्य से वन्धयोग्य, अवन्धयोग्य तथा वन्धविच्छिन्न होने वाल कर्मप्रकृतियों की संख्या को तीन गाथाओं द्वारा वतलाते हैं—

— प्रकृतियों की संख्या

सत्तरसेंकग्गसयं चउसत्तत्तरि सगट्ठि तेवट्ठी।
वंधा णवट्ठवण्णा दुवीस सत्तारसेकोघे ।।१०३।।

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७, , ५६, ५८, २२, १७, १, १, १, इसप्रकार का बन्ध तेरहवें गुणस्थान तक ा है। चौदहवें गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है। इसका अर्थ यह है कि मान्य से वन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं, उनमें से मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में र्थंकर और आहारकद्विक इन तीन प्रकृतियों का वन्ध नहीं होने से २०—३ = ११७ प्रकृतियाँ शेष रहती हैं। इसीप्रकार से द्वितीय आदि गुण- ानों में भी समझना चाहिए कि जैसे पहले गुणस्थान में व्युच्छिन्न प्रकृतियाँ ६ हैं और ३ प्रकृतियाँ अवन्ध हैं तो १६+३=१९ प्रकृतियाँ दूसरे गुणस्थान अवन्धरूप हैं, यानी १९ प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है। इसीप्रकार ागे के गुणस्थानों में भी व्युच्छिन्न प्रकृतियों को घटाने से प्रत्येक गुणस्थान की न्धसंख्या निकल आती है।

अवन्ध प्रकृतियों की संख्या

तिय उणवीसं छत्तियतालं तेवण्ण सत्तवण्णं च।
इगिदुगसट्ठी विरहिय सय तियउणवीससहिय वीससयं ।।१०४।।

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में क्रम से ३, १९, ४६, ४३, ५३, ५७, ६१, ६२, ९८, १०३, ११९, ११९, ११९ और १२० प्रकृतियाँ अवन्ध हैं। अर्थात् ऊपर लिखी गई संख्या के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान में कर्म प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता है।

बन्धव्युच्छिन्न प्रकृतियों की संख्या

सोलस पणवीस णभं दस चउ छक्केक्क वन्धवोच्छिण्णा।
दुग तीस चदुरपुव्वे पण सोलस जोगिणो एक्को ।।९४।।

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों में क्रमशः १६, २५, ० (शून्य)[1], १०, ४, ६, १, ३६ (२+३०+४), ५, १६, ०, ०, ०, १ प्रकृति व्युच्छिन्न[2] होती है।

गुणस्थानों में कर्मप्रकृतियों के वन्ध का सामान्य नियम इस प्रकार है—

सम्मेव तित्थवन्धो आहारदुगं पमादरहिदेसु।
मिस्सूणे आउस्स य मिच्छादिसु सेसवन्धोदु ॥९२॥

अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान से तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध होता है। आहारकद्विक का अप्रमत्त संयत गुणस्थान में वन्ध होता है। मिश्र गुणस्थान में आयु का बन्ध नहीं होता है तथा शेष प्रकृतियों का वन्ध मिथ्यादृष्टि आदि आदि गुणस्थानों में अपने वन्ध की व्युच्छित्ति तक होता है।

मार्गणाओं में बन्ध, अबन्ध, बन्धव्युच्छित्ति

मार्गणाओं में कर्म प्रकृतियों का बन्ध, अवन्ध और वन्ध व्युच्छित्ति—ये तीनों अवस्थाएँ गुणस्थान के समान समझना चाहिए। लेकिन उनमें जो जो विशेषता है, उसको गति आदि प्रत्येक मार्गणा की अपेक्षा क्रमशः स्पष्ट करते हैं।

गतिमार्गणा

ओघे वा आदेसे णारयमिच्छम्हि चारि वोच्छिण्णा।
उवरिम वारस सुरचउ सुराउ आहारयमवन्धा ॥१०५॥

मार्गणाओं में व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानों के समान समझना, लेकिन मिथ्यात्व गुणस्थान में व्युच्छिन्न होने वाली सोलह प्रकृतियों में से नरकगति

---

१ किसी भी प्रकृति का वन्धविच्छेद नहीं।

२ व्युच्छिन्न नाम है विछुड़ने का। जिस गुणस्थान में कर्मों की व्युच्छिन्न होने वाली प्रकृतियों की संख्या कही गई है, उसका अर्थ यह है कि उस गुणस्थान तक तो उस प्रकृति का संयोग रहता है, उसके आगे के गुणस्थान में उसका वन्ध, उदय और सत्ता नहीं रहती है।

में मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त संहनन इन चार की व्युच्छित्ति होती है तथा इनके अतिरिक्त शेष वारह प्रकृतियां तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग— ये सब १९ प्रकृतियाँ अवन्ध हैं। अर्थात् नरकगति के मिथ्यात्व गुणस्थान में १९ प्रकृतियों का वन्ध नहीं होता। अतएव सामान्य से वन्धयोग्य १०१ प्रकृतियां हैं।

घम्मे तित्थं वन्धदि वसामेघाण पुण्णगो चेव।
छट्ठोत्ति य मणुवाऊ चरिमे मिच्छेव तिरियाऊ ।।१०६।।

घर्मा (प्रथम नरक) में पर्याप्त, अपर्याप्त—दोनों अवस्थाओं में तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध होता है। दूसरे, तीसरे (वंशा, मेघा) नरक में पर्याप्त जीव को तीर्थङ्कर प्रकृति का वन्ध होता है। छठे (मघवी) नरक तक मनुष्यायु का वन्ध होता है। सातवें (माघवी) नरक में मिथ्यात्व गुणस्थान में ही तिर्यंचायु का वन्ध होता है।

मिस्साविरदे उच्चं मणुवदुगं सत्तमे हवे बंधो।
मिच्छा सासणसम्मा मणुवदुगुच्चं ण बंधंति ।।१०७।।

सातवें नरक में मिश्र और अविरति गुणस्थान में ही उच्च गोत्र, मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी इन तीन प्रकृतियों का वंध है। मिथ्यात्व व सास्वादन गुणस्थान वाले जीव वहाँ पर उच्च गोत्र और मनुष्यद्विक—इन तीन प्रकृतियों को नहीं वाँधते हैं।

तिरिये ओघो तित्थाहारूणो अविरदे छिदी चउरो।
उवरिमछण्हं च छिदी सासणसम्मे हवे णियमा ।।१०८।।

तिर्यंचगति में भी व्युच्छित्ति आदि गुणस्थानों की तरह ही समझना। परन्तु इतनी विशेषता है कि तीर्थङ्कर, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों का वन्ध ही नहीं होता है। अतः सामान्य से ११७ प्रकृतियाँ तिर्यंच-गति में वन्धयोग्य हैं। चौथे अविरति गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध आदि ४ की ही व्युच्छित्ति होती है तथा शेष रही मनुष्यगति योग्य वज्र-

ऋषभनाराच संहनन आदि छह प्रकृतियों की व्युच्छित्ति दूसरे सास्वादन गुण-स्थान में हो जाती है। क्योंकि यहाँ पर तिर्यंच मनुष्यगति सम्बन्धी प्रकृतियों का मिश्रादिक में बन्ध नहीं होता है।

उक्त कथन तिर्यंच के सामान्य तिर्यंच (सब भेदों का समुदाय रूप), पंचे-न्द्रिय तिर्यंच, पर्याप्त तिर्यंच, स्त्रीवेद तिर्यंच और लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंच—इन पांच भेदों में से लब्ध्यपर्याप्त भेद को छोड़ कर शेष चार प्रकार के तिर्यंचों की अपेक्षा समझना चाहिए। लब्ध्यपर्याप्त तिर्यंचों के तीर्थङ्कर नाम और आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों के साथ निम्न लिखित—

सुरणिरयाउ अपुण्णे वेगुव्वियछक्कमवि णत्थि ॥१०६॥

देवायु, नरकायु और वैक्रियषट्क—देवगति, देवानुपूर्वी, नरकगति, नरकानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय-अंगोपांग—इन आठ प्रकृतियों का भी बन्ध नहीं होता है।

तिरियेव णरे णवरि हु तित्थाहारं च अत्थि एमेव ॥११०॥

मनुष्यगति में बन्धव्युच्छित्ति वगैरह तिर्यंचगति के समान समझना चाहिए, लेकिन इतनी विशेषता है कि मनुष्यगति में तीर्थङ्कर और आहारक द्विक—आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन का भी बन्ध होने से १२० प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। मनुष्यगति में गुणस्थान १४ होते हैं, अतः गुणस्थानों की तरह मनुष्यगति में भी बन्धविच्छेद समझना चाहिए।

मनुष्यगति में उक्त प्रकृति बन्ध व विच्छेद सामान्य से बताया है किन्तु लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के बन्ध आदि तिर्यंच लब्धि-अपर्याप्त के समान समझना चाहिए। अर्थात् लब्धि-अपर्याप्त मनुष्य के भी १०६ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

णिरयेव होदि देवे आईसाणोत्ति सत्त वाम छिदी।
सोलस चेव अबन्धा भवणतिए णत्थि तित्थयरं ॥१११॥

देवगति में सर्व प्रकृतियों का बन्धविच्छेद आदि नरकगति के समा

समझना चाहिए। परन्तु इतनी विशेषता है कि मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में ईशान स्वर्ग तक पहले गुणस्थान की सोलह प्रकृतियों में से मिथ्यात्व आदि सात प्रकृतियों की ही व्युच्छित्ति होती है। शेष रही हुई सूक्ष्मादि नौ तथा देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग, देवायु, आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—ये ७ कुल सोलह अवन्धरूप हैं। इसलिए यहाँ बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १०४ हैं। भवनवासी, व्यंतर और ज्योतिषी देवों में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध नहीं होने से १०३ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं।

इन्द्रिय व काय मार्गणा

पुण्णिदरं विगिविगले तत्थुप्पण्णो हु ससाणो देहे।
पज्जत्तिं णवि पावदि इदि णरतिरियाउगं णत्थि ॥११३॥

एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) में लब्धि-अपर्याप्त अवस्था की तरह बन्धयोग्य १०९ प्रकृतियाँ समझना चाहिए। क्योंकि अपर्याप्त अवस्था में तीर्थङ्कर, आहारकद्विक, देवायु, नरकायु और वैक्रिय-षट्क—इन ११ प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है। एकेन्द्रिय एवं विकलत्रय के पहला और दूसरा ये दो गुणस्थान होते हैं। इनमें से पहले गुणस्थान में बन्धव्युच्छित्ति १५ प्रकृतियों की होती है। क्योंकि यद्यपि पहले गुणस्थान में १६ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद कहा गया है, परन्तु यहाँ पर उनमें से नरक-द्विक और नरकायु छूट जाती है तथा मनुष्यायु और तिर्यंचायु बढ़ जाती है। अतः १५ का ही विच्छेद होता है। मनुष्यायु और तिर्यंचायु के बन्धविच्छेद को पहले गुणस्थान में कहने का कारण यह है कि एकेन्द्रिय और विकलेन्द्रिय में उत्पन्न हुआ जीव सास्वादन गुणस्थान में शरीर पर्याप्ति को पूर्ण नहीं कर सकता, क्योंकि सास्वादन गुणस्थान का काल अल्प है और निर्वृत्ति अपर्याप्त अवस्था का काल अधिक। इस कारण सास्वादन गुणस्थान में मनुष्यायु व तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है और प्रथम गुणस्थान में ही बन्ध और विच्छेद होता है।

पंचेन्दियेसु ओघं एयक्खे वा वणप्फदीयंते।
मणुवदुगं मणुवाऊ उच्चं ण हि तेउ वाउम्हि ॥११४॥

पंचेन्द्रिय जीवों के व्युच्छित्ति आदि गुणस्थान की तरह समझना चाहिए। कायमार्गणा में पृथ्वीकाय आदि वनस्पतिकाय पर्यन्त में एकेन्द्रिय की तरह व्युच्छित्ति आदि जानना। विशेषता यह है कि तेजकाय तथा वायुकाय में मनुष्य गति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु और उच्च गोत्र—इन चार प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है और गुणस्थान एक मिथ्यादृष्टि ही है।

योगमार्गणा

ओघं तस मणवयणे ओराले मणुवगइभंगो ।।११५।।

त्रसकाय में बन्ध-विच्छेद आदि गुणस्थानों की तरह समझना चाहिए योगमार्गणा में मनोयोग तथा वचनयोग की रचना भी गुणस्थानों की तरह है तथा औदारिक काययोग में बन्ध-विच्छेद आदि मनुष्यगति के समान है।

ओराले वा मिस्से ण सुरणिरयाउहारणिरयदुगं।
मिच्छदुगे देवचओ तित्थं ण हि अविरदे अत्थि ।।११६।।

औदारिकमिश्र काययोग में औदारिक काययोग की तरह बन्ध-विच्छेद आदि है, लेकिन इतनी विशेषता है कि देवायु, नरकायु, आहारक शरीर आहारक अंगोपांग, नरकगति, नरकानुपूर्वी—इन छह प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता है, अर्थात् ११४ प्रकृतियों का ही बन्ध होता है। इनमें भी मिथ्यात्व और सास्वादन—इन दो गुणस्थानों में देवचतुष्क और तीर्थङ्कर नाम—इन पाँच प्रकृतियों का बन्ध नहीं होता, किन्तु चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में इनका बन्ध होता है।

पण्णारसमुनतीसं मिच्छदुगे अविरदे छिदी चउरो।
उवरिमपणसट्ठीवि य एक्कं सादं सजोगिम्हि ।।११७।।

औदारिकमिश्र काययोग में मिथ्यात्व और सास्वादन इन दो गुणस्थानों में १५ व २९ प्रकृतियों का बन्ध-विच्छेद क्रम से जानना चाहिए। चौथे अविरति सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में ऊपर की चार तथा अन्य ६५—कुल मिलाकर ६९ प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होता है। तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान में

देवे वा वेगुव्वे मिस्से णरतिरियआउगं णत्थि ।
छट्ठगुणंवाहरे तम्मिस्से णत्थि देवाऊ ॥११८॥

वैक्रिय काययोग में देवगति के समान बंधविच्छेद आदि समझना चाहिए। वैक्रियमिश्र काययोग में सौधर्म-ऐशान सम्बन्धी अपर्याप्त देवों के समान बंध-व्युच्छित्ति है, किन्तु इस मिश्र में मनुष्यायु और तिर्यंचायु का बन्ध नहीं होता है। आहारक काययोग में छठे गुणस्थान जैसा बन्धविच्छेद आदि होता है। आहारक मिश्रयोग में देवायु का वन्ध नहीं होता है।

कम्मे उरालमिस्सं वा णाउदुगंपि णव छिदी अयदे।

कार्मण काययोग में वन्धविच्छेद आदि औदारिकमिश्र काययोग के सदृश हैं, लेकिन विग्रहगति में आयु का वन्ध न होने से मनुष्यायु तथा तिर्यंचायु—इन दो का भी वन्ध नहीं होता है और चौथे गुणस्थान में नौ प्रकृतियों की व्युच्छित्ति होती है।

वेद से आहारक मार्गणा पर्यन्त

वेदादाहारोत्ति य सगुणट्ठाणाणमोघं तु ॥११९॥
णवरि य सव्वुवसम्मे णरसुरआऊणि णत्थि णियमेण।
मिच्छस्संतिम णवयं बारं ण हि तेउपम्मेसु ॥१२०॥
सुक्के सदरचउक्कं वामंतिमवारसं च ण व अत्थि।
कम्मेव अणाहारे बंधस्संतो अणंतो य ॥१२१॥

वेदमार्गणा से लेकर आहारकमार्गणा तक का कथन गुणस्थानों के साधारण कथन जैसा समझना चाहिए।

लेकिन सम्यक्त्वमार्गणा तथा लेश्यामार्गणा की शुभ लेश्याओं में और आहारमार्गणा की कुछ विशेषता है कि—

सम्यक्त्वमार्गणा में सभी, अर्थात् दोनों ही उपशम सम्यक्त्वी जीवों के मनुष्यायु और देवायु का वन्ध नहीं होता। लेश्यामार्गणा में तेजोलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की नौ तथा पद्मलेश्या वाले के मिथ्यात्व गुणस्थान की अन्त की बारह प्रकृतियों का वंध नहीं होता है। शुक्ललेश्या

वाले के शतारचतुष्क (तिर्यंचगति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु, उद्योत) और मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के अन्त की १२ कुल मिलाकर १६ प्रकृतियों का बंध नहीं होता है। आहारमार्गणा में अनाहारक अवस्था में कार्मणयोग जैसा बन्धविच्छेद आदि समझना चाहिए।

उदय एवं उदीरणा-स्वामित्व

मार्गणाओं में उदय और उदीरणा-स्वामित्व का कथन करने के पूर्व निम्नांकित गाथाओं में सामान्य नियमों को बतलाते हैं—

गुणस्थानों में उदय प्रकृतियां

सत्तरसेक्कारखचदुसहियसयं सगिगिसीदि छदुसदरी।
छावट्ठि सट्ठि णवसगवण्णास दुदालबारुदया ॥२७६॥

मिथ्यादृष्टि आदि चौदह गुणस्थानों में क्रम से ११७, १११, १००, १०४, ८७, ८१, ७६, ७२, ६६, ६०, ५९, ५७, ४२, १२ प्रकृतियों का उदय होता है।

अनुदय प्रकृतियां[1]

पंचेक्कारसबावीसट्ठारसपंचतीस इगिछादालं।
पण्णं छप्पण्णं वितिपणसट्ठि असीदि दुगुणपणवण्णं ॥२७७॥

मिथ्यादृष्टि आदि गुणस्थानों में क्रम से ५, ११, २२, १८, ३५, ४१, ४६, ५०, ५६, ६२, ६३, ६५, ८०, ११० प्रकृतियाँ अनुदय रूप हैं।

उदयविच्छिन्न प्रकृतियां

पण णव इगि सत्तरसं अड पंच च चउर छक्क छच्चेव।
इगिदुग सोलस तीसं बारस उदये अजोगंता ॥२६४॥

मिथ्यात्व आदि चौदह गुणस्थानों में क्रमशः ५, ९, १, १७, ८, ५, ४, ६, ६, १, २, १६, ३० और १२ प्रकृतियों का उदयविच्छेद होता है।

गदिआणुआउदओ समये भूथूलबादरे तावो ।
उच्चुदओ णरदेवे थीणतिगुदओ णरे तिरिये ॥२८५॥

किसी विवक्षित भव के पूर्व समय में ही उस विवक्षित भव के योग्य गति, आनुपूर्वी और आयु का उदय होता है। आतप नामकर्म का उदय बादर पर्याप्त पृथ्वीकाय जीवों को ही होता है। उच्च गोत्र का उदय मनुष्य और देवों को ही होता है और स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं का उदय मनुष्य और तिर्यंचों के होता है।

स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं के उदय का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है—

संखाउगणरतिरिए इन्दियपज्जत्तगादु थीणतिय ।
जोग्गमुदेदुं वज्जिय आहारविगुव्वणुट्ठवगे ॥२८६॥

संख्यात वर्ष की आयु वाले कर्मभूमिज मनुष्य और तिर्यंचों के ही इन्द्रिय पर्याप्ति के पूर्ण होने के बाद स्त्यानर्द्धि आदि तीन निद्राओं का उदय हुआ करता है। परन्तु आहारक ऋद्धि और वैक्रिय ऋद्धि के धारक मनुष्यों को इनका उदय नहीं होता है।

अयदापुण्णे ण हि थी संढोवि य घम्मणारयं मुच्चा ।
थीसंढयदे कमसो णाणुचऊ चरिमतिण्णाणू ॥२८७॥

निर्वृत्यपर्याप्तक के असंयत गुणस्थान में स्त्रीवेद का उदय नहीं है। इसी प्रकार प्रथम नरक घर्मा (रत्नप्रभा) के सिवाय अन्य तीन गतियों में असंयत गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त अवस्था में नपुंसकवेद का भी उदय नहीं होता है। इसीकारण से स्त्रीवेद वाले तथा नपुंसकवेद वाले असंयतों के क्रम से चारों आनुपूर्वी तथा नरक के बिना अन्त की तीन आनुपूर्वी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है।

इगिविगलथावरचऊ तिरिए अपुण्णो णरेवि संभवदि ।
ओरालदु णरतिरिए वेगुव्वदु देवणेरइए ॥२८८॥

एकेन्द्रिय तथा द्वीन्द्रिय आदि विकलत्रय और स्थावर आदि चार प्रकृतियों का उदय तिर्यंच के होने योग्य है। अपर्याप्त प्रकृति तिर्यंच व मनुष्य के भी उदय होने योग्य है। वज्रऋषभनाराच आदि छह संहनन और औदारिक शरीर युगल नामकर्म (औदारिक शरीर, औदारिक अंगोपांग) मनुष्य व तिर्यंच के उदय होने योग्य है। वैक्रिय शरीर व वैक्रिय अंगोपांग ये दो प्रकृतियाँ देव व नारकों के उदययोग्य हैं।

तेउतिगूणतिरिक्खेसुज्जोवो बादरेसु पुण्णेसु।
सेसाणं पयडीणं ओघं वा होदि उदओ दु ॥२८९॥

तेजस्कायिक, वायुकायिक और साधारण वनस्पतिकायिक - इन तीनों को छोड़कर अन्य बादर पर्याप्तक तिर्यंचों के उद्योत प्रकृति का उदय होता है। इनके अतिरिक्त अन्य शेष रही प्रकृतियों का उदय गुणस्थानों के अनुसार जानना चाहिए।

इस प्रकार से कर्म प्रकृतियों के उदय नियमों को कहकर अब मार्गणाओं में उदय प्रकृतियों का कथन करते हैं।

गतिमार्गणा

थीणतिथीपुरिसूणा घादी णिरयाउणीचवेयणियं।
णामे सगवचिठाणं णिरयाणू णारयेसुदया ॥२९०॥

स्त्यानर्द्धि आदि तीन, स्त्रीवेद और पुरुषवेद इन पाँच के सिवाय घाति कर्मों की ४२ प्रकृतियाँ, नरकायु, नीच गोत्र और साता असाता वेदनीय तथा नामकर्म में से नारकियों के भाषा पर्याप्ति के स्थान में होने वाली २९ प्रकृतियाँ तथा नरकगत्यानुपूर्वी ये ७६ प्रकृतियाँ नरकगति में उदय होने योग्य हैं।

२९ प्रकृतियों के नाम इसप्रकार हैं—

वेगुव्वतेजथिरसुहदुग दुग्गदिहुंडणिमिण पंचिन्दी।
णिरयगदि दुब्भगागुरुतसवण्णचऊ य वचिठाणं ॥२९१॥

वैक्रिय, तैजस, स्थिर शुभ—इनका युगल और अप्रशस्त विहायोगति, हुंडसंस्थान, निर्माण, पंचेन्द्री, नरकगति तथा दुर्भग-अगुरुलघु-त्रस-वर्ण

इनका चतुष्क, इसप्रकार कुल मिलाकर ये २९ प्रकृतियाँ नारक जीवों के वचनपर्याप्ति के स्थान पर उदय रूप होती हैं।

मिच्छमणंतं मिस्सं मिच्छादितिए कमा छिदी अयदे।
विदियकसाया दुब्भगणादेज्जदुगाउणिरयचउ ॥२९२॥

प्रथम नरक के मिथ्यादृष्टि आदि तीन, गुणस्थानों में क्रम से मिथ्यात्व नन्तानुबन्धीचतुष्क और सम्यग्मिथ्यात्व यह उदयविच्छिन्न होते हैं और चौथे गस्थान में अप्रत्याख्यानावरणचतुष्क, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, रकायु, नरकद्विक, वैक्रिय शरीर, वैक्रिय अंगोपांग यह १३ प्रकृतियां उदय-ाच्छिन्न होती हैं।

विदियादिसु छसु पुढविसु एवं णवरि य असंजदट्ठाणे।
णत्थि णिरयाणुपुव्वी तिस्से मिच्छेव वोच्छदो ॥२९३॥

दूसरे से लेकर सातवें नरक तक पहले नरक के समान उदयादि जानना, न्तु इतनी विशेषता है कि असंयत गुणस्थान में नरकानुपूर्वी का उदय नहीं। इसकारण मिथ्यात्व गुणस्थान में ही मिथ्यात्व प्रकृति के साथ नरकान-र्वी का भी उदयविच्छेद हो जाता है।

तिरिये ओघो सुरणरणिरयाऊउच्च मणुदुहारदुगं।
वेगुव्वछक्कतित्थं णत्थि हु एमेव सामण्णे ॥२९४॥

तिर्यंचगति में गुणस्थान के समान ही उदय जानना। परन्तु उनमें से ायु, मनुष्यायु, नरकायु, उच्चगोत्र, मनुष्यगतिद्विक, आहारकद्विक तथा ंक्रिय शरीर आदि ६, तथा तीर्थंकर—ये सब १५ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं ं। इस कारण १०७ प्रकृतियों का ही उदय हुआ करता है। इसीप्रकार तिर्यंच के पांच भेदों में सामान्य तिर्यंचों में भी जानना।

थावरदुगसाहारणताविगिविगलूण ताणि पंचक्खे।
इत्थिअपज्जत्तूणा ते पुण्णे उदयपयडीओ ॥२९५॥

उक्त सामान्य तिर्यंच की १०७ प्रकृतियों में से स्थावर आदि २, साध- आतप, एकेन्द्री, विकलत्रय—इन आठ प्रकृतियों को घटा देने पर

हुई ९९ प्रकृतियाँ पंचेन्द्रिय तिर्यंच के उदययोग्य हैं और इन ९९ प्रकृतियों में से भी स्त्रीवेद तथा अपर्याप्त इन दो को कम करने से शेष रही ९७ प्रकृतियाँ पर्याप्त तिर्यंच के उदययोग्य होती हैं।

तिर्यंचनी के उक्त ९७ प्रकृतियों में से पुरुषवेद एवं नपुंसकवेद को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से ९६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उसमें भी चौथे अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान में तिर्यंचानुपूर्वी का उदय नहीं है। लब्ध्य-पर्याप्तक पंचेन्द्री तिर्यंच के उक्त ९६ प्रकृतियों में स्त्रीवेद, स्त्यानर्द्धि आदि ३, परघातादि २, तथा पर्याप्त, उद्योत, स्वर का युगल, विहायोगतियुगल, यशःकीर्ति, आदेय, समचतुरस्र आदि पाँच संस्थान, वज्रऋषभनाराच आदि पाँच संहनन, सुभग, सम्यक्त्व, सम्यग्मिथ्यात्व—इन २७ प्रकृतियों को कम करके तथा अपर्याप्त व नपुंसक वेद इन दो प्रकृतियों को मिलाने से कुल ७१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

मणुवे ओघो थावरतिरियादावदुगएयवियलिंदि।
साहरणिदराउतियं वेगुव्वियछक्क परिहीणो ॥२९८॥

सामान्य मनुष्य के गुणस्थानों में कही गई १२२ प्रकृतियों में से स्थावर, तिर्यंचगति आतप, इन तीनों का युगल और एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय, साधारण, मनुष्यायु के अतिरिक्त अन्य तीन आयु और वैक्रिय शरीर आदि छह प्रकृतियों को कम करने से शेष उदययोग्य १०२ प्रकृतियाँ हैं।

मणुसोघं वा भोगे दुब्भगचउणीचसंढथीणतियं।
दुग्गदितित्थमपुण्णं संहदिसंठाणचरिमपणं ॥३०२॥
हारदुहीणा एवं तिरिये मणुदुच्चगोदमणुवाउ।
अवणिय पक्खिव णीचं तिरियदुतिरियाउउज्जोवं ॥३०३॥

भोगभूमिक मनुष्यों में सामान्य मनुष्य की १०२ प्रकृतियों में से दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र, नपुंसकवेद, स्त्यानर्द्धि आदि तीन, अप्रशस्त विहायोगति, तीर्थङ्कर, अपर्याप्ति, वज्र नाराच आदि पाँच संहनन, न्यग्रोधपरिमण्डल आदि पाँच संस्थान और आहारक शरीर का युगल इन २४ प्रकृतियों को कम कर देने पर शेष रही ७८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। इसीप्रकार भोगभूमिक

तिर्यंचों में मनुष्यों की तरह ७८ प्रकृतियों में मनुष्यगति आदि दो, उच्चगोत्र और मनुष्यायु इन चार प्रकृतियों को कम करने तथा नीच गोत्र, तिर्यंचगति आदि दो, तिर्यंचायु और उद्योत इन पाँच को मिलाने से ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

भोगं व सुरे णरचउणराउवज्जूण सुरचउसुराउं।
खिव देवे णेवित्थी इत्थिम्मि ण पुरिसवेदो य ॥३०४॥

सामान्य से देवों में भी भोगभूमिक मनुष्य की तरह ७८ प्रकृतियों में मनुष्यगति आदि चार, मनुष्यायु, वज्रऋषभनाराच संहनन इन छह प्रकृतियों को कम कर और देवगति आदि चार, देवायु इन पाँच को मिलाने से ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। परन्तु देवों में स्त्रीवेद का उदय और देवांगनाओं में पुरुषवेद का उदय नहीं होता है। अतः देवों और देवांगनाओं में ७६ प्रकृतियाँ ही उदययोग्य समझना चाहिए।

अविरदठाणं एक्कं अणुद्दिसादिसु सुरोघमेव हवे।
भवणतिकप्पित्थीणं असंजदे णत्थि देवाणू ॥३०५॥

अनुदिश आदि विमानों में एक असंयत गुणस्थान ही है। अतः देवों के अविरति गुणस्थान की तरह उदययोग्य ७० प्रकृतियाँ जानना। भवनत्रिक (भवनवासी, व्यंतर, ज्योतिषी) देव, देवियों तथा कल्पवासिनी स्त्रियों के सामान्य देवों की तरह ७७ प्रकृतियों में स्त्रीवेद अथवा पुरुषवेद के विना ७६ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं, किन्तु चौथे अविरति गुणस्थान में देवानुपूर्वी का उदय नहीं है, क्योंकि सम्यग्दृष्टि मरण कर भवनत्रिक में उत्पन्न नहीं होता। अर्थात् भवनत्रिक व कल्पवासिनी देवियों के चतुर्थ गुणस्थान में व तीसरे में भी उदययोग्य ६९ प्रकृतियाँ ही हैं।

इन्द्रियमार्गणा

तिरियअपुण्णं वेगे परघादचउक्कपुण्णसाहरणं।
एइन्दियजसथीणतिथावरजुगलं च मिलिदव्वं ॥३०६॥

रिणमंगोवंगतसं संहदिपंचक्खमेवमिह वियले।
अवणिय थावरजुगलं साहरणेयक्खमादावं ॥३०७॥
खिव तसदुग्गदिदुस्सरमंगोवंगं सजादिसेवट्टं।
ओघं सयले साहरणिगिविगलादावथावरदुगूणं ॥३०८॥

एकेन्द्रिय मार्गणा में तिर्यंच लब्धि-अपर्याप्त की ७१ प्रकृतियों में पराघात आदि चार, पर्याप्त, साधारण, एकेन्द्रिय जाति, यशःकीर्ति, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्थावर और सूक्ष्म कुल तेरह प्रकृतियाँ मिलाकर और अंगोपांग, त्रस, सेवार्त संहनन, पंचेन्द्री इन चार को कम करने से ८० प्रकृतियाँ उदययोग्य जानना। विकलत्रय में एकेन्द्रिय के समान ८० प्रकृतियों में से स्थावर युगल, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप इन पाँच प्रकृतियों को कम करके तथा त्रस, अप्रशस्तविहायोगति, दुःस्वर, अंगोपांग, अपनी-अपनी जाति, सेवार्त संहनन, इन छह प्रकृतियों को मिलाने से उदय योग्य ८१ प्रकृतियाँ हैं। पंचेन्द्रिय में गुणस्थान की तरह १२२ में से साधारण, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, आतप, स्थावर युगल—इन आठ प्रकृतियों को कम करने पर ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

काय व योगमार्गणा

एयं वा पणकाये ण हि साहारणमिणं च आदावं।
दूसु तद्दुगमुज्जोवं कमेण चरिमम्हि आदावं ॥३०९॥

पृथ्वीकाय आदि पाँचों कायों में एकेन्द्रिय की तरह ८० प्रकृतियों में से एक साधारण प्रकृति के कम करने पर पृथ्वीकाय में ७९ और साधारण व आतप प्रकृति के घटाने पर जलकाय में उदययोग्य ७८ तथा तेजस्काय, वायुकाय, इन दोनों में साधारण, आतप, उद्योत—इन तीन प्रकृतियों को घटाने पर ७७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। वनस्पतिकाय में सिर्फ आतप प्रकृति के कम करने पर ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

ओघं तसे ण थावरदुगसाहरणेयतावमथ ओघं।
मणवयणसत्तगे ण हि ताविगिविगलं च थावराणुचओ ॥३१०॥

त्रसकाय में गुणस्थान सामान्य की १२२ प्रकृतियों में से स्थावर आदि

, साधारण, एकेन्द्रिय, आतप—ये पाँच प्रकृतियाँ न होने से ११७ प्रकृतियाँ दय होने योग्य हैं।

चार मनोयोग तथा तीन वचनयोग कुल सात योगों में आतप, एकेन्द्रिय, विकलत्रय, स्थावर आदि चार, चार आनुपूर्वी—ये १३ प्रकृतियाँ नहीं होती , अतः १०६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

अणुभयवचि वियलजुदा ओघमुराले ण हार देवाऊ।
वेगुव्वछक्कणरतिरियाणु अपज्जत्तणिरयाऊ ।।३११।।

अनुभय वचनयोग में १०६ प्रकृतियों में विकलत्रय मिलाकर ११२ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

औदारिक काय योग में ११२ में से आहारक शरीर युगल, देवायु, वैक्रिय षट्क, मनुष्यानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी, अपर्याप्त, नरकायु—इन १३ प्रकृतियों के न होने से १०६ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

तम्मिस्से पुण्णजुदा ण मिस्सथीणतियसरविहाय दुगं।
परघादचओ अयदे णादेज्जदुदुब्भगं ण संढिच्छी ।।३१२।।
साणे तेसिं छेदो वामे चत्तारि चोद्दसा साणे।
चउदालं वोछेदो अयदे जोगिम्हि छत्तीसं ।।३१३।।

औदारिकमिश्र काययोग में पूर्व की १०६ प्रकृतियों में पर्याप्त के मिलाने तथा मिश्रप्रकृति, स्त्यानर्द्धित्रिक, स्वरद्वय, विहायोगतियुगल, पराघातादि चार, बारह प्रकृतियों के न होने से ९८ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। चौथे अविरति गुणस्थान में अनादेय युगल, दुर्भग, नपुंसकवेद, स्त्रीवेद इनका उदय नहीं है, इन-इन प्रकृतियों की व्युच्छित्ति सास्वादन गुणस्थान में ही जानना चाहिए। इसके मिथ्यात्व गुणस्थान में मिथ्यात्व, सूक्ष्मत्रय ये चार प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं। सास्वादन में अनन्तानुवन्धी आदि १४, असंयत में अप्रत्याख्यानादि ४४ तथा सयोगि केवली में ३६ प्रकृतियाँ का उदय विच्छेद जानना।

देवोघं वेगुव्वे ण सुराणु पक्खिवेज्ज णिरयाऊ।
णिरयगदि हुंडसंढं दुग्गदि दुब्भगचओ णीचं ।।३१४।।

वैक्रिय काययोग में देवगति के समान ७७ प्रकृतियों में से देवानुपूर्वी क[illegible] करने और नरकायु, नरकगति, हुंड संस्थान, नपुंसक वेद, अशुभ विहायोग[illegible] दुर्भग आदि चार, नीच गोत्र इन दस प्रकृतियों को मिलाने से ८६ प्रकृति[illegible] उदययोग्य हैं।

> वेगुव्वं वा मिस्से ण मिस्स परघादसरविहायदुगं।
> साणे ण हुंडसंढ दुब्भगणादेज्ज अज्जसयं ॥३१[illegible]
> णिरयगदिआउणीचं ते खित्तयदेऽवणिज्ज थीवेद।
> छट्ठगुणं वाहारे ण थीणतियसंढथीवेदं ॥३१[illegible]
> दुग्गदिदुस्सरसंहदि ओरालदु चरिमपंचसंठाणं।
> ते तम्मिस्से सुस्सर परघाददुसत्थगदि हीणा ॥३१[illegible]

वैक्रियमिश्र काययोग में वैक्रिय की ८६ प्रकृतियों में से मिश्र मोहनी[illegible] पराघात—स्वर—विहायोगति—इन तीन का युगल उदय रूप नही है, अथ[illegible] ये सात प्रकृतियाँ उदययोग्य न होने से ७९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। इ[illegible] भी सास्वादन गुणस्थान में हुंड संस्थान, नपुंसकवेद, दुर्भग, अनादेय, अयश: की[illegible] नरकगति, नरकायु, नीचगोत्र का उदय नहीं है, क्योंकि सास्वादन गुणस्थ[illegible] वाला मरकर नरक को नहीं जाता, किन्तु अविरति गुणस्थान में इनका उ[illegible] रहता है। सास्वादन में स्त्रीवेद और अनन्तानुबन्धी चतुष्क इन पाँच प्रकृति[illegible] की व्युच्छित्ति है। अविरति में अप्रत्याख्यानकषाय चतुष्क,वैक्रियद्विक, देवग[illegible] नरकगति, देवायु, नरकायु और दुर्भगत्रिक इन तेरह प्रकृतियों की व्युच्छि[illegible] होती है। आहारक काययोग में छठे गुणस्थान की ८१ प्रकृतियों में से स्त्यान[illegible] त्रिक नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, अप्रशस्त विहायोगति,दुःस्वर, छह संहनन, औदारि[illegible] द्विक, अंत के पाँचसंस्थान—इन २० प्रकृतियों का उदय नहीं है। आहारकमि[illegible] काययोग में इन ६१ प्रकृतियों में से सुस्वर, पराघातादि दो, प्रशस्तविहायोगति— इन चार को कम करने से ५७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

> ओघं कम्मे सरगदिपत्तेयाहारुरालदुग मिस्सं।
> उवघादपणविगुव्वदुथीणतिसठाणसंहदी णत्थि ॥३१८॥

साणे थीवेदछिदी णिरयदुणिरयाउगं ण तियदसयं ।
इगिवण्णं पणवीसं मिच्छादिसु चउसु वोच्छेदो ।।३१९।।

कार्मण काययोग में १२२ प्रकृतियों में से स्वर-विहायोगति—प्रत्येक—आहारकशरीर—औदारिकशरीर—इन सबका युगल, मिश्रमोहनीय, उपघात आदि पाँच, वैक्रिययुगल, स्त्यानर्द्धित्रिक, छह संस्थान, छह सहनन, इन प्रकृतियों के न होने से ८९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उसमें भी सास्वादन गुणस्थान में स्त्रीवेद की व्युच्छित्ति होती है और नरकगतिद्विक, नरकायु—इन तीन का उदय नहीं होता तथा मिथ्यात्वादि (मिथ्यात्व, सासादन, अविरति, सयोग केवलि) चार गुणस्थानों में क्रम से ३, १०, ५१, २५, प्रकृतियों की उदयव्युच्छित्ति होती है।

वेदमार्गणा

मूलोघं पुंवेदे थावरचउणिरयजुगलतित्थयरं ।।
इगिविगलं थीसंढं तावं णिरयाउगं णत्थि ।।३२०।।
इत्थीवेदेवि तहा हारदुपुरिसूणमित्थिसंजुत्तं ।
ओघं संढे ण हि सुरहारदुथीपुंसुराउतित्थयरं ।।३२१।।

पुरुषवेद में मूलवत् १२२ प्रकृतियों से स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक, तीर्थङ्कर, एकेन्द्रिय, विकलत्रिक, स्त्रीवेद, नपुंसकवेद आतप, नरकायु इन १५ प्रकृतियों के न होने से १०७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

स्त्रीवेद में उक्त १०७ प्रकृतियों में से आहारकशरीर युगल, पुरुषवेद इन तीन प्रकृतियों को कम करके और स्त्रीवेद को मिलाने से १०५ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। नपुंसक वेद में १२२ प्रकृतियों में से देवगति युगल, आहारकद्विक, स्त्रीवेद, पुरुषवेद, देवायु, तीर्थङ्कर—इन आठ प्रकृतियों को कम होने से ११४ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

कषाय, ज्ञान, संयम व दर्शन मार्गणा

तित्थयरमाणमायालोहचउक्कूणमोघमिह कोहे ।
अणरहिदे णिगिविगलं तावऽणकोहाणुथावरचउक्क ।।३२२।।

एवं माणादितिए मदिसुद अण्णाणगे दु सगुणोघं।
वेभंगेवि ण ताविगिविगलिंदी थावराणुचऊ ॥३२३॥
सण्णाणपंचयादी दंसणमग्गाणपदोत्ति सगुणोघं।
मणपज्जव परिहारे णवरि ण संढित्थि हारदुग ॥३२४॥
चक्खुम्मि ण साहारणताविगिवितिजाइ थावरं सुहुमं।

क्रोध कषाय मार्गणा में सामान्य १२२ प्रकृतियों में से तीर्थङ्कर तथा मा
माया, लोभ चतुष्क सम्बन्धी १२ कषायों को कम करने से १०९ प्रकृति
उदययोग्य हैं तथा अनन्तानुबन्धी रहित क्रोध में एकेन्द्री, विकलत्रिक, आत
अनन्तानुबन्धी क्रोध, चार आनुपूर्वी, स्थावर आदि चार, इसप्रकार १०९
से १४ प्रकृतियाँ तथा अनन्तानुबन्धी मान आदि तीन व मिथ्यात्व ये चार कु
१८ प्रकृतियों को छोड़कर उदययोग्य ९१ प्रकृतियाँ हैं।

इसी प्रकार मान आदि तीन कषायों में भी अपने से अन्य १२ कषाय त
तीर्थङ्कर प्रकृति इन १३ प्रकृतियों के न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययो
समझना।

ज्ञान मार्गणा में कुमति और कुश्रुत ज्ञान में सामान्य गुणस्थानवत् १
में से आहारक आदि ५ के सिवाय ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। वि
(कुअवधि) ज्ञान में भी उक्त ११७ प्रकृतियों में से आतप, एकेन्द्रिय, वि
लेन्द्रिय त्रय, स्थावर आदि चार, आनुपूर्वी चार, कुल मिलाकर १३ प्रकृति
उदय न होने के कारण १०४ प्रकृतियाँ उदय योग्य हैं।

पाँच सम्यग्ज्ञान से लेकर दर्शन मार्गणा स्थान पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थ
सरीखी उदययोग्य प्रकृतियाँ हैं, लेकिन मनःपर्यायज्ञान के विषय में यह वि
जानने योग्य है कि नपुंसकवेद, स्त्रीवेद, आहारक युगल ये चार प्रकृतियाँ उ
योग्य नहीं हैं।

दर्शन मार्गणा के चक्षुदर्शन में १२२ में से साधारण, आतप, एकेन्द्रि
द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय जाति, स्थावर, सूक्ष्म, तीर्थङ्कर—इन आठ प्रकृतियों

लेश्या मार्गणा

किण्हदुगे सगुणोघं मिच्छे णिरयाणु वोच्छेदो ॥३२५॥
साणे सुराउसुरगदिदेवतिरिक्खाणु वोच्छिदी एवं।
काओदे अयदगुणे णिरयतिरिक्खाणुवोच्छेदो ॥३२६॥
तेउतिये सगुणोघं णादाविगिविगलथावरचउक्कं
णिरयदुतदाउतिरियाणुगं णराणू ण मिच्छदुगे ॥३२७॥

लेश्या मार्गणा में कृष्ण, नील—इन दो लेश्याओं में अपने-अपने गुणस्थानवत् तीर्थङ्करादि तीन प्रकृतियों के सिवाय ११९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। लेकिन मिथ्यादृष्टि गुणस्थान में नरकानुपूर्वी भी व्युच्छिन्न समझना। सासादन गुणस्थान में देवायु, देवगति, देवानुपूर्वी, तिर्यंचानुपूर्वी—इन चार की व्युच्छित्ति होती है। इसीप्रकार कापोत लेश्या में भी, किन्तु अविरति गुणस्थान में नरकानुपूर्वी व तिर्यचानुपूर्वी इन दो प्रकृतियों की व्युच्छित्ति है।

तेजोलेश्या आदि तीन शुभ लेश्याओं में अपने-अपने गुणस्थानवत् १२२ में से आतप, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक, स्थावर आदि चार, नरकगतिद्विक नरकायु, तिर्यचानुपूर्वी—इन १३ प्रकृतियों का उदय न होने से १०९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं। उसमें भी मिथ्यादृष्टि आदि दो गुणस्थानों में मनुष्यानुपूर्वी का भी उदय नहीं है।

भव्य सम्यक्त्व व संज्ञी मार्गणा

खाइयसम्मो देसो णर एव जदो तहिं ण तिरियाऊ।
उज्जोवं तिरियगदी तेसिं अयदम्हि वोच्छेदो ॥३२९॥

भव्य, अभव्य, उपशम सम्यक्त्व, वेदक (क्षायोपशमिक) सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व मार्गणाओं में अपने-अपने गुणस्थान के कथन की तरह जानना। किन्तु विशेष यह जानना कि उपशम सम्यक्त्व तथा क्षायक सम्यक्त्व में सम्यक्त्व-मोहनीय उदययोग्य नहीं है तथा उपशमसम्यक्त्व में आदि की नरकानुपूर्वी आदि तीन आनुपूर्वी और आहारकद्विक ये प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं।

भव्विदरुवसमवेदगखइये सगुणोघमुवसमे खयिये।
ण हि सम्ममुवसमे पुण णादितियाणू य हारदुगं ॥३२

देशसंयत नामक पाँचवें गुणस्थान में क्षायिक सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही होता है, इसलिए तिर्यंचायु, उद्योत, तिर्यंचगति इन तीन प्रकृतियों का उदय नहीं है, अतः इन तीन की उदयव्युच्छित्ति अविरति गुणस्थान में हो जाती है।

सेसाणं सगुणोघ सण्णिस्सवि णत्थि तावसाहरणं।
थावरसुहुमिगिविगलं असण्णिणोवि य ण मणुदुच्च ॥३३०॥
वेगुव्वछ पणसंहदिसंठाण सुगमण सुभगआउतियं।

शेष मिथ्यात्व, सासादन, मिश्र सम्यक्त्व, इन तीनों में अपने-अपने गुणस्थान की तरह उदयादि जानना। अर्थात् मिथ्यारुचि में ११७ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं इत्यादि।

संज्ञी मार्गणा में संज्ञी के भी सामान्य १२२ में से आतप, साधारण, स्थावर, सूक्ष्म, एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रियत्रिक और पूर्वोक्त तीर्थङ्कर प्रकृति कुल ९ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं। असंज्ञी के मनुष्यगतिद्विक, उच्च गोत्र, वैक्रिय शरीर आदि षट्क, आदि के पाँच संहनन, आदि के पाँच संस्थान, प्रशस्त विहायोगति, सुभगादि तीन, नरकादि तीन आयु—ये २६ प्रकृतियाँ उदययोग्य नहीं हैं। अतः मिथ्यादृष्टि की ११७ में से २६ प्रकृतियाँ घटाने पर ९१ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

आहारमार्गणा

आहारे सगुणोघं णवरि ण सव्वाणुपुव्वीओ ॥३३१॥
कम्मे व अणाहारे, पयडीणं उदयमेवमादेसे ॥३३२॥

आहारक मार्गणा में आहारक अवस्था में सामान्य गुणस्थानवत् उदयादि समझना, परन्तु चारों आनुपूर्वी प्रकृतियों का उदय नहीं होता है। अतः उदययोग्य ११८ प्रकृतियाँ हैं।

अनाहारक अवस्था में कार्मण काययोग की तरह ८९ प्रकृतियाँ उदययोग्य हैं।

सत्तास्वामित्व

गति आदि मार्गणाओं में प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश इन चार

भेदों के लिये हुए प्रकृतियों के सत्त्व का यथायोग्य क्रम से कथन किया किया जा रहा है। सत्त्व को बतलाने के लिए सर्वप्रथम परिभाषा सूत्र कहते हैं—

तित्थाहारा जुगवं सव्वं तित्थं ण मिच्छगादितिए।
तस्सत्तकम्मियाणं तग्गुणठाणं ण संभवदि ॥३३३॥

मिथ्यादृष्टि, सासादन, मिश्र इन तीनों गुणस्थानों में क्रम से पहले में तीर्थंकर और आहारक द्विक एक काल में नहीं होते, तथा दूसरे में तीनों ही किसी काल में नहीं होते और मिश्र में तीर्थंकर प्रकृति नहीं होती। अर्थात् मिथ्यात्व में नाना जीवों की अपेक्षा १४८ प्रकृतियों की सत्ता है, सासादन में तीनों ही के किसी काल में न होने से १४५ की सत्ता है और मिश्र गुणस्थान में तीर्थंकर प्रकृति के न होने से १४७ प्रकृतियों की सत्ता है। क्योंकि इन सत्त्व प्रकृतियों वाले जीवों के ये मिथ्यात्वादि गुणस्थान ही संभव नहीं हैं।

चत्तारिवि खेत्ताइं आउगवन्धेण होइ सम्मत्तं।
अणुवद महव्वदाइं ण लहइ देवाउगं मोत्तु ॥३३४॥

चारों ही गतियों में किसी भी आयु का वन्ध होने पर सम्यक्त्व होता है, परन्तु देवायु के वन्ध के सिवाय अन्य तीन आयु के वन्ध वाला अणुव्रत तथा महाव्रत धारण नहीं कर सकता, क्योंकि वहाँ व्रत के कारणभूत विशुद्ध परिणाम नहीं हैं।

णिरयतिरिक्खसुराउग सत्ते ण हि देससयलवदखवगा।
अयदचउक्कं तु अण अणियट्टीकरण चरिमम्हि ॥३३५॥
जुगवं संजोगित्ता पुणोवि अणियट्टिकरण वहुभागं।
वोलिय कमसो मिच्छं मिस्सं सम्मं खवेदि कमे ॥३३६॥

नरक, तिर्यंच तथा देवायु के सत्त्व होने पर क्रम से देशव्रत, सर्वव्रत (महाव्रत और क्षपक श्रेणि नहीं होती और असंयतादि चार गुणस्थान वाले अनन्तानुबन्धी आदि सात प्रकृतियों का क्रम से क्षय करके क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं। उन सातों में से पहले अनन्तानुवन्धी चतुष्क का अनिवृत्तिकरण रूप परिणामों के अंतर्मुहूर्त काल के अन्त समय में एक ही वार विसंयोजन अर्थात्

अनन्तानुवन्धी चतुष्क को अप्रत्याख्यानादि वारह कषाय रूप परिणमन करा देता है तथा अनिवृत्तिकरण काल के वहुभाग को छोड़ कर शेष संख्यातवें एक भाग में पहले समय से लेकर क्रम से मिथ्यात्व, मिश्र और सम्यक्त्व प्रकृति का क्षय करते हैं। इस प्रकार सात प्रकृतियों के क्षय का क्रम है। यहाँ पर तीन गुणस्थानों का प्रकृति सत्त्व पूर्वोक्त ही समझना तथा असंयत से लेकर सातवें गुणस्थान तक उपशम सम्यग्दृष्टि तथा क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि इन दोनों के चौथे गुणस्थान में अनन्तानुबन्धी आदि की उपशम रूप सत्ता होने से १४८ प्रकृतियों का सत्त्व है। पांचवें गुणस्थान में नरकायु न होने से १४७ का, प्रमत्त गुणस्थान में नरक तथा तिर्यचायु इन दोनों का सत्त्व न होने से १४६ तथा अप्रमत्त में भी १४६ का सत्त्व है और क्षायिक सम्यग्दृष्टि के अनन्तानुबन्धी चतुष्क और दर्शन मोहत्रिक इन सात प्रकृतियों के क्षय होने से सात-सात कम समझना। अपूर्वकरण गुणस्थान में दो श्रेणि हैं, उनमें से क्षपक श्रेणि में तो १३८ प्रकृतियों का सत्त्व है क्योंकि अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों का तो पहले ही क्षय किया था और नरक, तिर्यंच तथा देवायु इन तीनों की सत्ता ही नहीं है।

सोलट्ठेक्किगिछक्कं चदु सेक्कं वादरे अदो एक्कं।
खीणे सोलसऽजोगे वायत्तरि तेरुवत्तंते ।।३३७।।

अनिवृत्तिकरण में क्रम से १६, ८, १, १, ६ प्रकृतियाँ सत्ता से व्युच्छिन्न होती हैं तथा अंतिम भाग में एक की ही सत्ता व्युच्छिन्न होती है। दसवें गुणस्थान में एक की ही व्युच्छित्ति है। ग्यारहवें में योग्यता ही नहीं है। बारहवें के अन्तसमय में १६ प्रकृतियों की सत्त्व व्युच्छित्ति होती है। सयोगि में किसी भी प्रकृति की व्युच्छित्ति नहीं है। अयोगि गुणस्थान के अंत के दो समयों में से पहले समय में ७२ की तथा दूसरे समय में १३ प्रकृतियाँ व्युच्छिन्न होती हैं।

गुणस्थानों में सत्त्व और असत्त्व प्रकृतियों की संख्या का क्रम इस प्रकार से है—

णमतिगिणभइगि दोद्दो दस दस सोलट्ठगादिहीणेसु।
सत्ता हवंति एवं असहाय परक्कमुद्दिट्ठं ।।३४२।।

मिथ्यादृष्टि आदि अपूर्वकरण गुणस्थान तक क्रम से शून्य (०), ३, १, शून्य (०), १, २, २, १० इतनी प्रकृतियों का असत्त्व जानना अर्थात् ये प्रकृतियाँ नहीं रहती हैं और अनिवृत्तिकरण के पहले भाग में १०, दूसरे में १६, तीसरे आदि भाग में ८ आदि प्रकृतिया असत्त्व जानना और इन असत्त्व प्रकृतियों को सब सत्त्व प्रकृतियों में घटाने से अवशेष प्रकृतियाँ अपने अपने गुणस्थानों में सत्त्व प्रकृतियाँ हैं। (ऐसा सहायता रहित पराक्रम के धारक श्री महावीर स्वामी ने कहा है।)

उपशम के विधान में भी क्षपणा के विधान की तरह क्रम जानना चाहिए, किन्तु यह विशेष है कि संज्वलन कषाय और पुरुष वेद मध्य में अप्रत्याख्यानावरण और प्रत्याख्यानावरण कषाय सम्बन्धी दो दो क्रोधादि हैं, सो पहले उनको क्रम से उपशमन करता है, पीछे संज्वलन क्रोधादि का उपशम करता है। अर्थात् क्षपक श्रेणि की तरह उपशम श्रेणि में नौवें गुणस्थान के दूसरे भाग में मध्यम आठ कषायों का उपशम नहीं होता है किन्तु पुरुष वेद के वाद और संज्वलन के पहले होता है और उसका क्रम ऐसा है कि पुरुष वेद के वाद अप्रत्याख्यान और प्रत्याख्यान दोनों के क्रोध का उपशम पश्चात् संज्वलन क्रोध का उपशम इत्यादि। मान आदि में भी ऐसा ही क्रम जानना चाहिए।

तिरिए ण तित्थसत्तं णिरयादिसु तिय चउक्क चउ तिण्ण।
आऊणि होंति सत्ता सेसं ओघादु जाणेज्जो ॥३४४॥

तिर्यंचगति में तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं हैं तथा नरक, तिर्यंच, मनुष्य तथा देवगति में क्रम से भुज्यमान नरकायु और वध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु—इन तीन आयुओं की; भुज्यमान तिर्यंचायु और वध्यमान—नरक तिर्यंच, मनुष्य देवायु इन चार की; भुज्यमान मनुष्यायु और वध्यमान नरक, तिर्यंच, मनुष्य व देवायु इन चार की; भुज्यमान देवायु और वध्यमान तिर्यंच व मनुष्यायु इन तीन आयु कर्मों की सत्ता रहने योग्य है तथा शेष प्रकृतियों की सत्ता गुणस्थान की तरह समझना चाहिए।

गतिमार्गणा

ओघं वा णेरइये ण सुराऊ तित्थमत्थि तदियो त्ति।
छट्ठित्ति मणुस्साऊ तिरिए ओघं ण तित्थयरं ॥३४६॥

नरक गति में गुणस्थानवत् सत्ता जानना, किन्तु देवायु की सत्ता न होने से १४७ प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य हैं। तीसरे नरक तक तीर्थङ्कर प्रकृति की न सत्ता है तथा मनुष्यायु की सत्ता छठे नरक तक है। तिर्यंच गति में भी सत्ता गुणस्थानवत् समझना लेकिन तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नहीं है, इसलिए सत्त्वयोग्य १४७ प्रकृतियाँ हैं।

एवं पंचतिरिक्खे पुण्णिदरे णत्थि णिरयदेवाऊ।
ओघं मणुसतियेसुवि अपुण्णगे पुण अपुण्णेव ॥३४७॥

इसी प्रकार पाँच जाति के तिर्यंचों में भी सामान्य रीति से सत्त्व जानना लेकिन विशेष यह है कि लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच में नरकायु, देवायु—इन की सत्ता नहीं है। मनुष्य के तीन भेदों में भी गुणस्थानवत् सत्त्व समझना परन्तु लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्य में लब्ध्यपर्याप्तक तिर्यंच की तरह नरकायु, देवायु और तीर्थङ्कर इन तीन प्रकृतियों के विना १४५ प्रकृतियाँ सत्त्वयोग्य हैं।

ओघं देवे ण हि णिरयाऊ सारोत्ति होदि तिरियाऊ।
भवणतियकप्पवासियइत्थीसु ण तित्थयरसत्तं ॥३४८॥

देवगति में सामान्यवत् जानना, किन्तु नरकायु न होने से १४७ प्रकृति की सत्ता है। सहस्रार स्वर्ग तक तिर्यंचायु की सत्ता है। भवनत्रिक देव कल्पवासिनी स्त्रियों में तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है।

इन्द्रिय व कायमार्गणा

ओघं पंचक्खतसे सेसिंदियकायगे अपुण्णं वा।
तेउदुगे ण णराऊ सव्वत्थुव्वेल्लणावि हवे ॥३४९॥

पंचेन्द्रिय व त्रसकाय में सामान्य गुणस्थान की तरह प्रकृतियों की सत्ता है। शेष एकेन्द्रिय आदि चतुरिन्द्रिय तक तथा पृथ्वी आदि स्थावर काय में लब्ध्यपर्याप्तक की तरह १४५ प्रकृतियों की सत्ता जानना। परन्तु तेजस्काय और वायुकाय में मनुष्यायु का सत्त्व न होने से इन दोनों में १४४ की सत्ता

...समझना । इन्द्रिय और काय मार्गणा में प्रकृतियों की उद्वेलना[1] भी ...ती हैं ।

...योगमार्गणा

पुण्णेकारसजोगे साहारयमिस्सगेवि सगुणोघं ।
वेगुव्वियमिस्सेवि य णवरि ण माणसतिरिक्खाऊ ।।३५२।।

मनोयोग आदि ११ पूर्ण योगों में और आहारकमिश्र योग में अपने-अपने ...स्थानों की तरह सत्त्व प्रकृतियाँ जानना । वैक्रियमिश्र योग में भी गुण-...नवत् ही सत्ता जानना, किन्तु यह विशेषता है कि यहाँ पर मनुष्यायु और ...चायु—इन की सत्ता नहीं है, अत: १४६ सत्ता योग्य प्रकृतियाँ है ।

ओरालमिस्स जोगे ओघं सुरणिरयआउगं णत्थि ।
तम्मिस्सवामगे ण हि तित्थं कम्मेवि सगुणोघं ।।३५३।।

औदारिकमिश्र योग में सामान्य गुणस्थानवत सत्ता जानना, किन्तु देवायु ...आयु दो प्रकृतियाँ न होने से १४३ प्रकृतियाँ सत्तायोग्य हैं । औदारिकमिश्र ...थ्यादृष्टि के तीर्थंकर प्रकृति नहीं है, अत: पहले गुणस्थान में १४५ का सत्त्व ... । कार्मणकाययोग में गुणस्थानवत् १४८ प्रकृतियों की सत्ता समझना ...हिए ।

...से आहार मार्गणा पर्यन्त

वेदादाहारोत्ति य सगुणोघं णवरि संढथीखवगे ।
किण्हदुगसुहतिलेस्सियवामेवि ण तित्थयरसत्तं ।।३५४।।
अभव्वसिद्धे णत्थि हु सत्तं तित्थयरसम्ममिस्साणं ।
आहारचउक्कम्सवि असण्णिजीवे ण तित्थयरं ।।३५५।।
कम्मेवाणाहारे पयडीणं सत्तमेवमादेसे ।

---

१ जिस प्रकृति का बन्ध किया था उसका परिणामविशेष से अन्य प्रकृति ...रूप परिणमन करके नाश कर देना अर्थात् फल उदय में नहीं आने दिया, पहले नाश कर दिया, उसे उद्वेलन कहते हैं । उद्वेलन योग्य प्रकृतियाँ १३ हैं—आहारकद्विक, सम्यक्त्व मिश्र मोहनीय, देवगतिद्विक, नरक-...

वेद मार्गणा से लेकर आहारक मार्गणा पर्यन्त अपने-अपने गुणस्थानवत् सामान्य सत्त्व समझना चाहिए, किन्तु इतनी विशेषता है कि नपुंसक वेद और स्त्रीवेद क्षपक श्रेणी वाले के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है। इसी प्रकार कृष्ण व नील इन दो लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के और पीतादि तीन शुभ लेश्या वाले मिथ्यादृष्टि के भी तीर्थङ्कर प्रकृति का सत्त्व नहीं है।

अभव्य जीवों के तीर्थंकर, सम्यक्त्व, मिश्रमोहनीय तथा आहारकचतुष्क (आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, आहारक बन्धन, आहारक संघात) इन सात प्रकृतियों का सत्त्व नहीं है। असंज्ञी जीव के तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता नहीं है।

अनाहारक मार्गणा में कार्मण काययोगवत् प्रकृतियों का सत्त्व समझना चाहिए।

ेताम्वर-दिगम्बर कर्मसाहित्य के समान-असमान मन्तव्य

श्वेताम्वर-दिगम्वर कर्मसाहित्य के वन्धस्वामित्व सम्वन्धी समान-असमान ाव्य यहाँ उपस्थित करते हैं।

(१) तीसरे गुणस्थान में आयुवन्ध नहीं होने के वारे में श्वेताम्वर एवं म्वर कर्मसाहित्य में समानता है। श्वेताम्वर कर्मसाहित्य में तीसरे मिश्र त्यान में आयुकर्म के वन्ध को नहीं मानते हैं। यही मन्तव्य दिगम्वर कर्म-हित्य का भी है।

(२) पृथ्वीकाय आदि मार्गणाओं में दूसरे गुणस्थान में ९६ और ९४ तियों का वन्ध मतभेद से कर्मग्रन्थ में है लेकिन गोम्मटसार कर्मकाण्ड में न ९४ प्रकृतियों का वन्ध माना है।

(३) एकेन्द्रिय से चतुरिन्द्रिय पर्यन्त चार इन्द्रिय मार्गणाओं तथा पृथ्वी, और वनस्पति— इन तीन काय-मार्गणाओं में पहला और दूसरा यह दो स्थान कर्मग्रन्थ में माने हैं। गो० कर्मकांड में भी इसी पक्ष को स्वीकार गा है। लेकिन सर्वार्थसिद्धिकार का इस विषय में भिन्न मत है। वे एकेन्द्रिय दि चार इन्द्रिय मार्गणाओं एवं पृथ्वीकाय आदि तीन मार्गणाओं में पहला गुणस्थान मानते हैं।

(४) एकेन्द्रियों में गुणस्थान मानने के सम्वन्ध में श्वेताम्वर सम्प्रदाय में पक्ष हैं। सैद्धान्तिक पक्ष सिर्फ पहला गुणस्थान और कर्मग्रंथ पक्ष पहला, रा ये दो गुणस्थान मानता है। दिगम्वर सम्प्रदाय में भी यही दो पक्ष देखने आते हैं—सर्वार्थसिद्धि और गो० जीवकाण्ड में सैद्धान्तिक पक्ष तथा गो० काण्ड में कर्मग्रान्थिक पक्ष।

(५) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में मिथ्यात्व गुणस्थान में १०९ कृतियों का वन्ध कर्मग्रन्थ की तरह गो० कर्मकाण्ड में भी माना गया है।

(६) औदारिकमिश्र काययोग मार्गणा में अविरति सम्यग्दृष्टि को ७

कोई अन्तर नहीं है। दोनों का आशय यह है कि तेजस् व वायु कायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनाम कर्मोदय नहीं है, लेकिन गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना है। द्वीन्द्रियादि में त्रसनाम कर्मोदय व गमन क्रिया रूप दोनों प्रकार का त्रसत्व है।

लेकिन दिगम्बर साहित्य में तेजःकायिक, वायुकायिक जीवों को स्थावर ही कहा है, अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नहीं कहा है।

(११) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रर्षि महत्तर रचित) में औदारिकमिश्र काययोग में कर्मग्रन्थ के समान तिर्यंचायु और मनुष्यायु के वन्ध को माना है।

(१२) कर्मग्रन्थ में आहारक काययोग में ६३ प्रकृतियों का वन्ध कहा है। लेकिन इस विषय में पंचसंग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काय-योग में ५७ प्रकृतियों का वन्ध मानते हैं।

आशा है उक्त मतभिन्नताएँ जिज्ञासुओं को तलस्पर्शी अध्ययन में सहायक बनेंगी।

प्रकृतियों के बन्ध विषयक टवे के मत की पुष्टि गो० कर्मकाण्ड में भी की गई है।

(७) कर्मग्रंथ में आहारकमिश्र काययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध माना है, किन्तु गो० 'कर्मकाण्ड में ६२ प्रकृतियों का बन्ध माना गया है।

(८) कृष्ण आदि तीन लेश्याओं में कर्मग्रंथ और गो० कर्मकाण्ड ने ७७ प्रकृतियों और सैद्धान्तिक पक्ष ने ७५ प्रकृतियों का बन्ध माना है।

कर्मग्रंथ व गो० कर्मकाण्ड में शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व समान है।

तीसरे कर्मग्रंथ में कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ पहले चार गुणस्थानों में मानी हैं। इसी प्रकार का गोम्मटसार और सर्वार्थसिद्धि का भी मत है।

(९) श्वेताम्बर सम्प्रदाय में १२ देवलोक माने हैं (तत्त्वार्थ० अ० ४, सू० २० का भाष्य) परन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय में १६ (तत्त्वार्थ० अ० ४ सू० १८ की सर्वार्थसिद्धि टीका)। श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त छह देवलोक हैं, किन्तु दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार १०। इनमें से ब्रह्मोत्तर, कापिष्ठ, शुक्र, शतार ये चार देवलोक हैं, जो श्वेताम्बर सम्प्रदाय में नहीं माने हैं।

श्वेताम्वर सम्प्रदाय में तीसरे सनत्कुमार से लेकर पाँचवें ब्रह्मलोक पर्यन्त केवल पद्मलेश्या तथा छठे लान्तक से लेकर ऊपर से सव देवलोकों में शुक्ल-लेश्या मानी है, किन्तु दिगम्वर सम्प्रदाय में सनत्कुमार, माहेन्द्र दो देवलोकों में तेजोलेश्या व पद्मलेश्या, ब्रह्मलोक, ब्रह्मोत्तर, लान्तव, कापिष्ठ—इन चार देवलोकों में पद्मलेश्या, शुक्र, महाशुक्र, शतार, सहस्रार—इन चार देवलोकों में पद्म व शुक्ल लेश्या तथा आनत आदि शेप सव देवलोकों में केवल शुक्ल-लेश्या मानी हैं।

(१०) श्वेताम्वर, दिगम्वर दोनों सम्प्रदायों में तेज व वायुकायिक जीव स्थावर नामकर्म के उदय के कारण स्थावर माने गये हैं, तथापि श्वेताम्बर साहित्य में अपेक्षा विशेप से उनको त्रस भी कहा है। तत्त्वार्थ भाष्य टीका आदि में तेज:कायिक, वायुकायिक को 'गतित्रस' और आचारांग निर्युक्ति और उसकी टीका में—'लब्धि त्रस' कहा है, लेकिन इन दोनों शब्दों के तात्पर्य में

कोई अन्तर नहीं है। दोनों का आशय यह है कि तेजस् व वायु कायिक में द्वीन्द्रिय आदि की तरह त्रसनाम कर्मोदय नहीं है, लेकिन गमन क्रिया रूप शक्ति होने से त्रसत्व माना है। द्वीन्द्रियादि में त्रसनाम कर्मोदय व गमन क्रिया रूप दोनों प्रकार का त्रसत्व है।

लेकिन दिगम्बर साहित्य में तेजःकायिक, वायुकायिक जीवों को स्थावर ही कहा है, अपेक्षा विशेष से उनको त्रस नहीं कहा है।

(११) पंचसंग्रह (श्री चन्द्रर्षि महत्तर रचित) में औदारिकमिश्र काययोग में कर्मग्रन्थ के समान तिर्यचायु और मनुष्यायु के बन्ध को माना है।

(१२) कर्मग्रन्थ में आहारक काययोग में ६३ प्रकृतियों का बन्ध कहा है। लेकिन इस विषय में पंचसंग्रहकार का मत भिन्न है। वे आहारक काय-योग में ५७ प्रकृतियों का बन्ध मानते हैं।

आशा है उक्त मतभिन्नताएँ जिज्ञासुओं को तलस्पर्शी अध्ययन में सहायक बनेंगी।

मार्गणाओं में बंध-स्वामित्व प्रदर्शक यंत्र

ज्ञानावरण आदि अष्ट कर्मों की बंध प्रकृतियाँ १२० हैं।

मार्गणाओं में ओघ (सामान्य) और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्ध-स्वामित्व का वर्णन किया गया है कि सामान्य से किस मार्गणा में कितनी प्रकृतियाँ और गुणस्थानों की अपेक्षा कितनी प्रकृतियाँ बंधयोग्य हैं।

मार्गणाओं में वन्ध-विच्छेद बतलाने के लिये निम्नलिखित ५५ प्रकृतियों का अधिक उपयोग हुआ है। उनके नाम क्रमशः निम्न प्रकार हैं—

१ तीर्थंकर नामकर्म,
२ देवगति,
३ देव आनुपूर्वी,
४ वैक्रिय शरीर,
५ वैक्रिय अंगोपांग,
६ आहारक शरीर,
७ आहारक अंगोपांग,
८ देवायु
९ नरकगति,
१० नरक-आनुपूर्वी,
११ नरक-आयु,
१२ सूक्ष्म,
१३ अपर्याप्त,
१४ साधारण,
१५ द्वीन्द्रिय,
१६ त्रीन्द्रिय
१७ चतुरिन्द्रिय,
१८ एकेन्द्रिय,
१९ स्थावर नामकर्म,
२० आतप नामकर्म,
२१ नपुंसक वेद,
२२ मिथ्यात्व,
२३ हुंड संस्थान,
२४ सेवार्त संहनन,
२५ अनन्तानुबन्धी क्रोध,
२६ अनन्ता० मान,
२७ अनन्ता० माया,
२८ अनन्ता० लोभ,
२९ न्यग्रोध-परिमण्डल संस्थान,
३० सादि संस्थान,
३१ वामन संस्थान,
३२ कुब्ज संस्थान,
३३ ऋषभनाराच संहनन,
३४ नाराचसंह

३५ अर्धनाराच संहनन
३६ कीलिका संहनन
३७ अशुभविहायोगति,
३८ नीचगोत्र,
३९ स्त्रीवेद,
४० दुर्भग,
४१ दुःस्वर,
४२ अनादेय,
४३ निद्रा-निद्रा,
४४ प्रचला-प्रचला,
४५ स्त्यानर्द्धि,
४६ उद्योत,
४७ तिर्यंचगति,
४८ तिर्यंचानुपूर्वी,
४९ तिर्यंचायु,
५० मनुष्य-आयु,
५१ मनुष्यगति,
५२ मनुष्यानुपूर्वी,
५३ औदारिक शरीर,
५४ औदारिक अंगोपांग,
५५ वज्रऋषभनाराच संहनन।

अगले यंत्रों में वन्ध-विच्छेद वतलाने के लिये प्रारम्भिक प्रकृति से अंतिम प्रकृति का नामोल्लेख किया जायेगा। जिसका अर्थ यह है कि उस नाम वाली प्रकृति के नाम सहित अंतिम प्रकृति के नाम तक की सभी प्रकृतियों का ग्रहण करना चाहिये। जैसे देवगति से नरकायु तक लिखा होने पर इनमें देवगति, देवानुपूर्वी, वैक्रियशरीर, वैक्रिय अंगोपांग, आहारकशरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरक-आनुपूर्वी, नरक आयु (२ से ११) तक की प्रकृतियों का ग्रहण होगा।

नरकगति तथा रत्नप्रभा, शर्कराप्रभा, वालुकाप्रभा नरकत्रय का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०१ गुणस्थान – आदि के चा

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियों विहीन = १०१

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व हुंड संस्थान सेवार्त संहनन = ४
२	९६	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (से लेकर तिर्यंचायु (४ तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकर मनुष्य-आयु	

अबन्ध—जिसका विवक्षित गुणस्थान में बन्ध नहीं होता, लेकिन अ गुणस्थान में बन्ध सम्भव है।

पुनःबन्ध—जिसका अन्य गुणस्थान में बन्ध नहीं होता है लेकिन इ गुणस्थान में बंध होता है।

बन्ध-विच्छेद जिसका बन्ध इस गुणस्थान तक ही होता है, आगे

पंकप्रभा, धूमप्रभा, तमःप्रभा नरकत्रय का बन्ध-स्वामित्व

ान्य बन्धयोग्य १०० गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तक की २० प्रकृतियों विहीन = १००

क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००	×	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड-संस्थान, सेवार्त संहनन=४
२	९६	×	×	नरक सामान्यवत् अनन्तानु० क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४९) तक=२५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	×

महातमप्रभा नरक का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ६६ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से आतप नामकर्म (२०) तथा मनुष्यायु विहीन =६६

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	६६	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	×	नपुंसकवेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन, तिर्यंचायु=५
२	६१	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक=२४
३	७०	×	३ उच्चगोत्र मनुष्यगति मनुष्यानुपूर्वी	
४	७०	×	×	×

अपर्याप्त[1] तिर्यंच, अपर्याप्त मनुष्य का बंध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०९ गुणस्थान — प्रथम (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरक-आयु (११) तक की ११ प्रकृतियों से विहीन = १०९

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०९	×	×	×

१ अपर्याप्त का यहां अर्थ लब्धि-अपर्याप्त से है, करण-अपर्याप्त से नहीं। लब्धि-अपर्याप्त अर्थ लेने का कारण यह है कि करण-अपर्याप्त मनुष्य तीर्थंकर नामकर्म का वन्ध कर सकता है, लब्धि-अपर्याप्त नहीं। इसीलिये लब्धिअपर्याप्तता की अपेक्षा तीर्थंकर नामकर्म को सामान्य वन्धयोग्य प्रकृतियों में ग्रहण नहीं किया गया है।

पर्याप्त मनुष्य तथा मन, वचन योग सहित औदारिक काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १२० (बंधाधिकार में बताये गये अनुसार)

गुणस्थान—१४

क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थंकर नाम आहारकशरीर आहारकअंगो.	×	नरकगति (६) से सेवार्त संहनन (२४) तक=१६
२	१०१	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से वज्रऋषभ-नाराच संहनन (५५) तक=३१
३	६९	१ देवायु	×	×
४	७१	×	२ तीर्थंकर नाम, देवायु	अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ =४
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान =४
६	६३	×	×	" " ६/२

गु०स०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
७	५६/५८		२ आहारक शरीर आहारक अंगोपांग	वन्धाधिकार के समान १
८	५८ ५६ २६	×	×	वन्धाधिकार के समान २/३०/४
९	२२	×	×	,, ,, १
	२१	×	×	,, ,, १
	२०	×	×	,, ,, १
	१९	×	×	,, ,, १
	१८	×	×	,, ,, १
१०	१७	×	×	,, ,, १६
११	१	×	×	
१२	१	×	×	
१३	१	×	×	,, ,, १
१४	×	×	×	×

सामान्य देवगति, सौधर्म, ईशान देवलोक, वैक्रिय काययोग का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १०४ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १६ प्रकृतियों से विहीन =१०४

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०३	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्त संहनन एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप =७
२	९६	×	×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यंचायु (४९) तक =२५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकर नाम, मनुष्यायु	

सनत्कुमार से सहस्रार पर्यन्त देवलोकों का बन्ध-स्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०१		गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से लेकर आतप नामकर्म (२०) तक की १९ प्रकृतियों से विहीन=१०१

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१००.	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन =४
२	९६	×	×	अनन्तानुबन्धी क्रोध (२५) से लेकर तिर्यंचायु (४६) तक=२५
३	७०	१ मनुष्यायु		×
४	७२	×	२ तीर्थंकर नाम मनुष्यायु	×

आनत से अच्युत पर्यंत तथा नवग्रैवेयक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ९७ गुणस्थान—आदि के चार

देवगति (२) से आतप नामकर्म (२०) तक की १९ तथा उद्योत, तिर्यंच-गति, तिर्यंचानुपूर्वी, तिर्यंचायु ये चार कुल २३ प्रकृतियों से विहीन=९७

गुण०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	९६	१ तीर्थंकर नाम	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, सेवार्तसंहनन=४
२	९२	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से स्त्यानर्द्धि (४५) तक=२१
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७२	×	२ तीर्थंकर नाम मनुष्यायु	

अनुत्तर से सर्वार्थसिद्धि तक देवलोकों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ७२ गुणस्थान—एक (अविरत)

गुण०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
४	७२	×	२ तीर्थंकर, मनुष्यायु	×

भवनपति, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०३ गुणस्थान—आदि के चार

तीर्थंकर नामकर्म (१) से चतुरिन्द्रिय जाति (१७) तक १७ प्रकृतियों से विहीन = १०३

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	१०३	×	×	नपुंसक वेद, मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, सेवार्त संहनन, एके-न्द्रिय, स्थावर, आतप=७
२	९६		×	अनन्ता० क्रोध (२५) से तिर्यंचायु (४९) तक = २५
३	७०	१ मनुष्यायु	×	×
४	७१	×	१ मनुष्यायु	

तेउकाय, वायुकाय (गतित्रस) का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०५ गुणस्थान—एक (मिथ्यात्व)

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक ११ तथा मनुष्यगति, मनुष्यानुपूर्वी, मनुष्यायु, उच्च गोत्र ये चार कुल १५ प्रकृतियों से विहीन = १०५

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०५	×	×	×

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय) वचनयोग, काययोग, पृथ्वी, जल तथा वनस्पतिकाय का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०९ गुणस्थान—आदि के दो

तीर्थंकर नामकर्म (१) से नरकायु (११) तक की ११ प्रकृतियों से विहीन =१०९

गु० क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०९	×	×	सूक्ष्म (१२) से लेकर सेवार्त संहनन (२४) तक = १३[1]
२	९६	×	×	

[1] किन्हीं किन्हीं आचार्यों का मन्तव्य है कि दूसरे गुणस्थान में एकेन्द्रिय आदि मनुष्यआयु और तिर्यंचआयु का भी बन्ध नहीं करते हैं अतः ९४ प्रकृतियों का बन्ध दूसरे गुणस्थान में मानना चाहिये। अतः मिथ्यात्व गुणस्थान की विच्छिन्न प्रकृतियों में दो प्रकृतियों को और मिलाने पर १५ प्रकृतियां होती हैं। उनको कम करने पर ९४ प्रकृतियां दूसरे गुणस्थान में बन्धयोग्य रहती है।

गो० कर्मकांड में दूसरे गुणस्थान की बंधयोग्य प्रकृतियां ९४ ही मानी हैं।

औदारिकमिश्र काययोग का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११४ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग, देवायु, नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु विहीन = ११४

गु०क्र०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध विच्छेद
१	१०९	५ तीर्थंकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवा संहनन (२४) तक १३ त मनुष्यायु, तिर्यंचायु=१
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक=२
४	७५		५ तीर्थंकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

विशेष—जिज्ञासु ने यहां शंका की है कि औदारिक मिश्र काययोग तिर्यंच और मनुष्य को होता है और तिर्यंच व मनुष्यगति के बन्धस्वामित्व में चौथे गुणस्थान में क्रमशः ७० और ७१ प्रकृतियों का बन्ध कहा है और यहां औदारिकमिश्र काययोग में ७५ प्रकृतियों का। इन ७५ प्रकृतियों में मनुष्यद्विक, औदारिकद्विक और वज्रऋषभनाराच संहनन का समावेश है। इनका तिर्यंचगति और मनुष्यगति के चौथे गुणस्थान की बन्धयोग्य प्रकृतियों में समावेश नहीं होता है अतः

कर्मकांड में भी चौथे गुणस्थान में ७०, ७१ प्रकृतियां बंधयोग्य मानी है।

इसका समाधान यह है कि गाथा १५ में आगत 'अणचउवीसाइ' पद का अर्थ सिर्फ अनन्तानुबन्धी चतुष्क आदि चौबीस प्रकृतियां न करके 'आइ' शब्द से मनुष्यद्विक आदि पांच प्रकृतियों को ग्रहण कर लिया जाये तो शंका को कोई स्थान नहीं रहता है। उस स्थिति में ७० और ७१ प्रकृतियों को चौथे गुणस्थान में बन्धयोग्य माना जा सकता है।

इस प्रकार का समाधान कर लेने पर भी कर्मग्रन्थ में ७५ प्रकृतियों के बन्ध को मानने का कारण क्या है, यह जिज्ञासा बनी रहती है। अतः विचारणीय है।

औदारिकमिश्र काययोग में सिद्धान्त के मतानुसार पांचवां, छठा यह दो गुणस्थान माने जाते हैं। इस सम्बन्ध में सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि जैसे औदारिक काययोग की शरीर पर्याप्ति पूर्ण नहीं होने के समय तक कार्मणकाययोग के साथ मिश्रता होने से औदारिक काययोग को औदारिक मिश्रकाययोग कहा जाता है, वैसे ही लब्धिजन्य वैक्रिय और आहारक शरीर का इनके प्रारम्भ काल में औदारिक शरीर के साथ मिश्रण होने के समय जब तक वैक्रिय या आहारक शरीर में शरीर पर्याप्ति पूर्ण न हो तब तक के लिये औदारिक मिश्रकाययोग माना जाना चाहिए।

सिद्धान्त का उक्त दृष्टिकोण ग्राह्य है और उस दृष्टि से औदारिकमिश्र काययोग में पांचवां, छठा गुणस्थान माने जा सकते हैं। लेकिन कर्मग्रन्थों में लब्धिजन्य शरीर को प्रधानता न मानकर वैक्रिय और आहारक शरीर को औदारिकमिश्र काययोग नहीं माना है। सिर्फ कार्मण और औदारिक शरीर दोनों के सहयोग से होने वाले योग को औदारिकमिश्र काययोग मानना चाहिये और यह योग पहले, दूसरे, चौथे तथा तेरहवें गुणस्थान में पाया जाता है।

इसीलिये इन चार गुणस्थानों में बन्धस्वामित्व का कथन किया है।

कार्मण काययोग व अनाहारक का वन्धस्वामित्व

सामान्य वन्धयोग ११२ गुणस्थान—१, २, ४, १३ (चार गुणस्थान)

आहारकद्विक, देवायु, नरकत्रिक, मनुष्यायु, तिर्यंचायु कुल ८ प्रकृतियों से विहीन = ११२

गु०क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	१०७	५ तीर्थंकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	×	सूक्ष्मनाम (१२) से सेवार्त संहनन (२४) तक = १३
२	९४	×	×	अनन्तानु० क्रोध (२५) से तिर्यंचानुपूर्वी (४८) तक २४
४	७५		५ तीर्थंकर नाम देवद्विक वैक्रियद्विक	
१३	१	×	×	

यद्यपि अनाहारक मार्गणा १, २, ४, १३ और १४ इन पांच गुणस्थानों में पाई जाती है, और वन्धस्वामित्व कार्मण काययोग के समान १, २, ४ और १३ इन चार गुणस्थानों का वतलाया है तो इसका कारण यह है कि चौदहवें गुणस्थान में कर्मवन्ध के कारणों का सर्वथा अभाव हो जाते से किसी भी कर्म का वन्ध नहीं होता है और शेष गुणस्थानों में मिथ्यात्वादि वन्धकारण अपनी-अपनी भूमिका तक रहते हैं। अतः कार्मण काययोग जैसा अनाहारक मार्गणा का चार गुणस्थानों में वन्धस्वामित्व वत-

अनाहारक के दो अर्थ हैं—१ कर्मबन्ध के कारणों का पूर्ण रूप से निरोध हो जाने से कर्मों का सर्वथा आहार-ग्रहण न करना। यह अवस्था चौदहवें अयोगि केवली गुणस्थान में प्राप्त होती है, इसीलिये चौदहवां गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में माना जाता है। २—जिस स्थिति में सिर्फ कार्मण काययोग की पुद्गलवर्गणाओं का ग्रहण होता हो उसे अनाहारक अवस्था कहते हैं। इस दृष्टि से संसारी जीव एक शरीर को छोड़ कर भवान्तर प्राप्ति के लिये विग्रहगति द्वारा गमन करता है, उस स्थिति में कार्मण योग साथ रहता है, अन्य औदारिककाय आदि की ग्राह्य वर्गणायें नहीं रहती हैं। इस विग्रह गति में स्थित जीवों के सिर्फ पहला, दूसरा और चौथा यह तीन गुणस्थान होते हैं।

सयोगि केवली (तेरहवां गुणस्थान) अनाहारक मार्गणा में इसलिये ग्रहण किया गया है कि आयु कर्म के परमाणुओं से अन्य कर्मों की स्थिति अधिक हो तो उनको आयुकर्म की स्थिति के बराबर करने के लिये समुद्घात किया करते हैं। इस समुद्घात स्थिति में सिर्फ कार्मण योग रहता है और अधिक स्थिति वाले कर्मों को विपाकोदय द्वारा आयुकर्म की स्थिति के बराबर कर लिया जाता है। यह समुद्घात सयोगि केवली द्वारा होता है, इसीलिये तेरहवां गुणस्थान अनाहारक मार्गणा में माना गया और वहां सिर्फ साता-वेदनीय कर्म का बन्ध होता है।

आहारक एवं आहारकमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व

कर्मग्रन्थ के मतानुसार आहारक और आहारकमिश्र काययोग का बन्ध-स्वामित्व सामान्य से और गुणस्थान की अपेक्षा बन्धाधिकार में बताये गये छठे प्रमत्तसंयत गुणस्थान के जैसा ६३ प्रकृतियों का है और गुणस्थान छठा बतलाया है।

लेकिन पंचसंग्रह सप्ततिका का मत है कि आहारक काययोग में छठा और सातवां यह दो गुणस्थान हैं तथा आहारकमिश्र काययोग में सिर्फ छठा गुणस्थान है। तब आहारक काययोग का बन्ध छठे गुणस्थान में ६३ व सातवें गुणस्थान में ५७ और देवायु का बन्ध न हो तो ५६ प्रकृतियों का माना जाना चाहिये।

उक्त मंतव्य का आधार यह है कि आहारक शरीर का बन्धयोग्य गुणस्थान सातवां है और उदययोग्य छठा। जब चौदह पूर्वधारी आहारक शरीर करता है, उस समय लब्धि का उपयोग करने से प्रमाद युक्त होने से छठा गुणस्थान होता है और आहारक शरीर का प्रारम्भ करते समय वह औदारिक के साथ मिश्र होता है, यानी आहारक और आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान होता है किन्तु बाद में विशुद्धि की शक्ति से सातवें गुणस्थान में आता है तब आहारक योग ही रहता है और गुणस्थान सातवां।

इस दृष्टि से आहारक काययोग में छठा और सातवां तथा आहारकमिश्र काययोग में छठा गुणस्थान माना जाना चाहिये और तब आहारक काययोग में ६३ और ५७ तथा आहारकमिश्र काययोग में ६३ प्रकृतियां बन्धयोग्य होंगी।

गोम्मटसार कर्मकांड में आहारक काययोग में ६३ प्रकृतियाँ और आहारकमिश्र काययोग में देवायु का बन्ध न मानने से ६२ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य मानी हैं। देवायु के बन्ध न मानने का कारण यह नियम है कि मिश्र अवस्था में आयु का बन्ध नहीं होता है।

पंचेन्द्रिय, त्रसकाय, भव्य, संज्ञी का वन्धस्वामित्व

सामान्य वन्धयोग्य १२०

गुणस्थान—१४ गुणस्था

ज्ञानावरण आदि अष्टकर्मों की वन्धाधिकार में वताई गई १२० प्रकृतिय

गु०क्र०	वन्धयोग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
१	११७	३ तीर्थंकर आहा० शरीर आहा० अंगो०		वन्धाधिकार के अनुसार १६
२	१०१	×	×	वन्धाधिकार के अनुसार २५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव व मनुष्यायु	वन्धाधिकार के अनुसार १०
५	६७	×	×	वन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		वन्धाधिकार के समान ६/७

१ वेदमार्गणा तथा कषायमार्गणा के सामान्य भेदों—क्रोध, मान, माया और लोभ—में से क्रोध, मान, माया इन तीन भेदों में बन्धयोग्य प्रकृतियाँ १२० हैं तथा पहले मिथ्यात्व से नौवें अनिवृत्तिकरण तक नौ गुणस्थान होते हैं। उनमें ऊपर कहे गये बन्ध के अनुसार प्रत्येक गुणस्थान में बन्धस्वामित्व समझना।

२ कषायमार्गणा के चौथे सामान्य भेद लोभ में बन्धयोग्य १२० प्रकृतियां हैं और गुणस्थान मिथ्यात्व से सूक्ष्मसंपराय पर्यन्त दस होते हैं। इनका बंध-स्वामित्व ऊपर कहे गये अनुसार जानना।

३ अनन्तानुबन्धी कषाय चतुष्क (क्रोध, मान, माया, लोभ) प्रारंभ के दो गुणस्थानों में पाई जाती है। इसमें तीर्थङ्कर एवं आहारकद्विक का बन्ध सम्भव नहीं है। क्योंकि तीर्थंकर प्रकृति का बन्ध सम्यक्त्वसापेक्ष है और आहारकद्विक का बन्ध संयमसापेक्ष। किन्तु अनन्तानुबन्धी कषाय में न सम्यक्त्व है और न चारित्र। अतः तीन प्रकृतियों के कम करने पर सामान्य से ११७ और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान पहले में ११७ और दूसरे में १०१ प्रकृतियां बन्धयोग्य हैं।

४ अप्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क का उदय आदि के चार गुणस्थान पर्यन्त रहता है अतः इसमें चार गुणस्थान माने जाते हैं। इस कषाय में सम्यक्त्व होने से तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध हो सकता है किन्तु सर्वविरति चारित्र न होने से आहारकद्विक का बन्ध नहीं होता। अतः आहारकद्विक के बन्धयोग्य न होने से सामान्य से ११८ प्रकृतियां तथा गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान आदि के चार गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ प्रकृतियां बन्धयोग्य हैं।

५ प्रत्याख्यानावरण कषायचतुष्क में एकदेश चारित्र होने से आदि के पांच गुणस्थान होते हैं। तीर्थङ्कर प्रकृति बन्धयोग्य है लेकिन आहारकद्विक का बन्ध सम्भव नहीं है। अतः सामान्य से ११८ प्रकृतियां तथा गुणस्थानों में एक से लेकर पांचवें तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ प्रकृतियां बन्धयोग्य हैं।

लेकिन तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान में सिर्फ एक प्रकृति—सातावेदनीय का बन्ध होता है।

११ दर्शनमार्गणा के भेद चक्षुदर्शन और अचक्षुदर्शन क्षायोपशमिक भाव होने से पहले से लेकर बारहवें गुणस्थान तक रहते हैं अतः इनका बन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान है। अर्थात् सामान्य बन्धयोग्य १२० और गुणस्थानों में क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ आदि बारहवें गुणस्थान तक समझना चाहिये।

१२ संयममार्गणा के भेद अविरति में आदि के चार गुणस्थान होते हैं। चौथे गुणस्थान में सम्यक्त्व होने से तीर्थंकर नाम का बन्ध हो सकता है किन्तु चारित्र न होने से चारित्रसापेक्ष आहारकद्विक का बन्ध न होने से ११८ प्रकृतियाँ सामान्य बन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों में बन्धाधिकार के समान पहले से चौथे तक क्रमशः ११७, १०१, ७४, ७७ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व है।

१३ सामायिक, छेदोपस्थानीय ये दो संयम छठे से नौवें गुणस्थान पर्यन्त चार गुणस्थानों में पाये जाते हैं। इनमें आहारकद्विक का बन्ध सम्भव है। अतः छठे गुणस्थान की बंधयोग्य ६३ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को (६३+२) जोड़ने से सामान्य से ६५ प्रकृतियां बन्धयोग्य हैं और छठे, सातवें, आठवें, नौवें गुणस्थान में क्रमशः ६३, ५९।५८, ५८।५६। २६, २२। २१।२०।१९।१८ का बन्धस्वामित्व समझना चाहिये।

१४ परिहारविशुद्धि संयम में छठा और सातवां यह दो गुणस्थान हैं। इस संयम में आहारकद्विक का उदय नहीं होता है, किन्तु बन्ध संभव है। अतः बन्धयोग्य ६५ प्रकृतियां है और गुणस्थानों में क्रमशः ६३, ५९।५८ का बन्धस्वामित्व समझना।

१५ सूक्ष्मसंपराय संयम में अपने नाम वाला सूक्ष्मसंपराय नामक दसवां गुणस्थान एवं देशविरत संयम में अपने नाम वाला देशविरत नामक पांचवा गुणस्थान होता है। इन दोनों का बन्धस्वामित्व सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा अपने गुणस्थान में बन्धयोग्य प्रकृतियों का है अर्थात् सूक्ष्मसंपराय में १७ और देशविरत में ६७ प्रकृतियां बन्धयोग्य है।

६ यथाख्यात चारित्र में अन्तिम चार (उपशान्तमोह, क्षीणमोह, सयोगि केवली, आयोगि केवली) गुणस्थान हैं। इन चार गुणस्थानों में से अयोगि केवली गुणस्थान में वन्ध कारण का अभाव होने से किसी प्रकृति का वन्ध नहीं होता है किन्तु शेष तीन गुणस्थानों में वन्धाधिकार के अनुसार सामान्य व विशेष एक प्रकृति—साता वेदनीय—का वन्ध होता है।

७ उपशम सम्यक्त्व चौथे से लेकर ग्यारहवें गुणस्थान तक पाया जाता है। इस सम्यक्त्व की यह विशेषता है कि आयुबन्ध नहीं होता है। चौथे गुणस्थान में मनुष्यायु और देवायु का तथा पाँचवें आदि में देवायु का वन्ध नहीं होने से चौथे गुणस्थान की वन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों में से उक्त दो आयु को कम करने से सामान्य की अपेक्षा ७५ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य हैं। चौथे गुणस्थान में भी ७५ प्रकृतियों का वन्ध जानना चाहिये। पाँचवें से सातवें गुण-स्थान तक वन्धाधिकार में वताई गई वन्ध संख्या में से एक-एक प्रकृति को कम करने पर क्रमशः६६, ६२, ५८ प्रकृतियों का वन्ध होता है। इसके वाद आठवें से ग्यारहवें गुणस्थान तक वन्धाधिकार के अनुसार वन्ध-स्वामित्व है।

८ वेदक (क्षायोपशमिक) में आठवें अपूर्वकरण गुणस्थान से उपशम या क्षपक श्रेणि का क्रम प्रारम्भ हो जाने से चौथे अविरति से लेकर सातवें अप्रमत्त विरति गुणस्थान तक चार गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का वन्ध सम्भव है, अतः चौथे गुणस्थान की वन्धयोग्य ७७ प्रकृतियों के साथ आहारकद्विक को जोड़ने से ७९ प्रकृतियाँ सामान्य से वन्धयोग्य हैं और गुणस्थानों में वन्धस्वामित्व वन्धाधिकार में बताये गये अनुसार क्रमशः ७७, ६७, ६३, ५९।५८ प्रकृतियों का है।

९ दर्शनमोह के क्षय से जन्य क्षायिक सम्यक्त्व में चौथे से चौदहवें तक ग्यारह गुणस्थान होते हैं। इसमें आहारकद्विक का वन्ध सम्भव होने से सामान्यरूप में वन्धस्वामित्व ७९ प्रकृतियों का है और गुणस्थानों की अपेक्षा वन्धाधिकार में गुणस्थानों के क्रम से क्रमशः ७७, ६७, [illegible] ५९।५८ आदि से १ प्रकृति पर्यन्त तेरहवें सयोगि केवली गुणस्था[न]

समझना चाहिये। चौदहवां अयोगी केवली गुणस्थान वन्ध कारण न होने से अवन्धक है।

२० मिथ्यात्व, सास्वादन और मिश्र दृष्टि ये तीन भी सम्यक्त्व मार्गणा के अवान्तर भेद हैं। इनमें अपने-अपने नाम वाला क्रमशः पहला, दूसरा, तीसरा एक-एक गुणस्थान होता है। तीर्थंकर नाम और आहारकद्विक आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग—इन तीन प्रकृतियों के वन्धयोग्य न होने से मिथ्यात्व में ११७, सासादन में १०१ और मिश्र दृष्टि में ७४ प्रकृतियाँ सामान्य से वन्धयोग्य हैं।

२१ अभव्य जीवों के सिर्फ पहला मिथ्यात्व गुणस्थान होता है। मिथ्यात्व के कारण सम्यक्त्व और चारित्र की प्राप्ति न होने से तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का वन्ध संभव नहीं है। इसलिये सामान्य और गुणस्थान की अपेक्षा ११७ प्रकृतियाँ वन्धयोग्य हैं।

२२ असंज्ञी जीवों के पहला और दूसरा यह दो गुणस्थान होते हैं। इनके सामान्य से और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर और आहारकद्विक का वन्ध नहीं होने से ११७ प्रकृतियों का तथा दूसरे गुणस्थान में वन्धाधिकार के कथनानुसार १०१ प्रकृतियों का वन्ध होता है।

२३ आहारक मार्गणा में सभी कर्मावृत संसारी जीवों का ग्रहण होने से पहले मिथ्यात्व से लेकर तेरहवें सयोगि केवली गुणस्थान तक तेरह गुणस्थान हैं। इसका वन्धस्वामित्व सामान्य से और गुणस्थानों की अपेक्षा प्रत्येक में वन्धाधिकार के कथनानुसार जानना चाहिये। अर्थात् सामान्य वन्धयोग्य १२० प्रकृतियाँ हैं और गुणस्थानों में ११७, १०१, ७४, ७७, ६७ आदि का क्रम सयोगि केवली तक का समझना चाहिये।

कृष्ण, नील, कापोत लेश्याओं का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य ११८ गुणस्थान — आदि के चार

बन्धाधिकार में कही गई १२० प्रकृतियों में आहारकद्विक से विहीन = ११८।

गुणस्थान	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	११७	१ तीर्थंकर नाम कर्म	×	बन्धाधिकार के समान १६
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के समान २५
३	७४	२ देव व मनुष्यायु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम देव व मनुष्यायु	

कृष्णादि तीन लेश्याओं में आहारकद्विक का बन्ध न मानने का कारण यह है कि उसका बन्ध सातवें गुणस्थान में ही होता है और कृष्णादि तीन लेश्या वाले अधिक से अधिक छठे गुणस्थान तक पाये जा सकते हैं। इसीलिये इन लेश्याओं में सामान्य से ११८ प्रकृतियों का बन्धस्वामित्व माना है।

[illegible] ग्रन्थों में कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में ७७ प्रकृतियों का बन्ध [illegible] गया है। और इनमें मनुष्यायु व देवायु का समावेश है। लेकिन [illegible] कहना है कि कृष्णादि तीन लेश्याओं के चौथे गुणस्थान में [illegible]

मनुष्यायु और देवायु का बन्ध कहा है, वहाँ सिर्फ मनुष्यायु को बाँधते हैं परन्तु देवायु को नहीं बाँधते हैं। अतः ७७ की बजाय ७६ प्रकृतियों का बन्ध मानना चाहिये।

सिद्धान्त के उक्त मत का समाधान कर्मग्रन्थ में कहीं नहीं किया गया है और बहुश्रुतगम्य कह कर छोड़ दिया है। लेकिन विचारणीय अवश्य है और जब तक इसका समाधान नहीं होता तब तक यह मानना पड़ेगा कि कृष्णादि तीन लेश्या वाले सम्यग्दृष्टि के जो प्रकृतिबन्ध में देवायु की गणना है वह कर्मग्रन्थ सम्बन्धी मत है, सैद्धान्तिक मत नहीं है।

तेजोलेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १११ गुणस्थान—आदि के सात

नरकनवक—नरकगति, नरकानुपूर्वी, नरकायु, सूक्ष्म, साधारण, अपर्याप्त, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय विहीन=१११

गुण०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०८	३ तीर्थंकर नाम आहारकद्विक	×	मिथ्यात्व, हुंडसंस्थान, नपुंसक वेद, सेवार्त संह० एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप=७
२	१०१	×	×	बन्धाधिकार के समान =२५
३	७४	२ देव व मनुष्य आयु	×	×
४	७७	×	३ तीर्थंकरनाम, देव व मनुष्यायु	बन्धाधिकार के समान १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×		बन्धाधिकार के समान ६/७
७	५९/५८	×	२ आहारकद्विक	×

पद्मलेश्या में आदि के ७ गुणस्थान होते हैं, लेकिन इसके सामान्य बन्ध-स्वामित्व में यह विशेषता है कि तेजोलेश्या के नरकनवक के साथ एकेन्द्रिय त्रिक—एकेन्द्रिय, स्थावर, आतप—का भी बन्ध नहीं होने से सामान्यबन्ध १०८ प्रकृतियों का है और पहले गुणस्थान में तीर्थङ्कर नाम और आहारक-द्विक यह तीन प्रकृतियाँ अवन्ध होने से १०५ प्रकृतियाँ बन्धयोग्य हैं। उनमें से मिथ्यात्व, हुंड संस्थान, नपुंसकवेद, सेवार्त संहनन इन चार प्रकृतियों का बन्धविच्छेद होने पर दूसरे गुणस्थान की बन्धयोग्य १०१ प्रकृतियाँ होती हैं। तीसरे से लेकर सातवें गुणस्थान का बन्ध बन्धाधिकार के समान समझना चाहिये।

शुक्ललेश्या का बन्धस्वामित्व

सामान्य बन्धयोग्य १०४ गुणस्थान—पहले से तेरहवें तक

उद्योत चतुष्क—उद्योत नाम, तिर्यचगति, तिर्यचानुपूर्वी, तिर्यचायु तथा नरकत्रिक (पद्मलेश्या में बतलाई गई) विहीन=१०८

गुण०	बन्ध योग्य	अबन्ध	पुनः बन्ध	बन्ध-विच्छेद
१	१०१	३ तीर्थंकर नाम आहारकद्विक	×	नपुंसकवेद, हुंडसंस्थान, मिथ्यात्व, सेवार्तसंहनन =४
२	९७	×	×	बन्धाधिकार की २५ प्रकृतियों में से उद्योत चतुष्क न्यून =२१
३	७४	२ देव व मनुष्यायु	×	
४	७७	×	३ तीर्थंकर नाम, देव मनुष्यायु	बन्धाधिकार के समान १०
५	६७	×	×	बन्धाधिकार के समान ४
६	६३	×	×	बन्धाधिकार के समान ६।७
७	५९।५८	×	२ आहारकद्विक	बन्धाधिकार के समान १
८	५८	×	× × ×	बन्धाधिकार के समान २ बन्धाधिकार के समान ३० बन्धाधिकार के समान ४

गु० क्र०	वन्ध योग्य	अवन्ध	पुनः वन्ध	वन्ध-विच्छेद
६	२२	×	×	वन्धाधिकार के समान
	२१	×	×	,, ,,
	२०	×	×	,, ,,
	१६	×	×	,, ,,
	१८	×	×	,, ,,
१०	१७	×	×	,, ,,
११	१	×	×	×
१२	१	×	×	×
१३	१	×	×	

मार्गणाओं में वन्धस्वामित्व का वर्णन समाप्त

जैन-कर्मसाहित्य का संक्षिप्त परिचय

भारतीय तत्त्वचिंतन की मुख्य तीन शाखाएं हैं—(१) वैदिक, (२) बौद्ध और (३) जैन। इन तीनों शाखाओं के वाङ्मय में कर्मवाद के सम्बन्ध में विचार किया गया है। वैदिक एवं बौद्ध साहित्य में किया गया कर्म-सम्बन्धी विचार इतना अल्प है कि उसमें सिर्फ कर्म-विषयक विचार करने वाले कोई खास ग्रन्थ नहीं हैं; यत्र-तत्र प्रासंगिक रूप में यत्किंचित् विचार अवश्य किया गया है। लेकिन इसके विपरीत जैन वाङ्मय में कर्म-सम्बन्धी अनेक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। जिनमें कर्मवाद का क्रमबद्ध विकासोन्मुखी, पूर्वापर शृंखला-बद्ध एवं सुव्यवस्थित अतिव्यापक रूप में विवेचन किया गया है। जैन-साहित्य में कर्म-सम्बन्धी साहित्य का अपना एक महत्त्वपूर्ण स्थान है और कर्मशास्त्र अथवा कर्मग्रन्थ के रूप में प्रसिद्ध है। स्वतन्त्र कर्मग्रन्थों के अतिरिक्त आगमों तथा उत्तरवर्ती आचार्यों द्वारा रचित ग्रन्थों में यत्र-तत्र कर्मविषयक चर्चाएँ देखने को मिलती हैं।

कर्मसाहित्य का मूल आधार

जैन वाङ्मय में इस समय जो भी कर्मशास्त्र का संकलन किया गया है, उसमें से प्राचीन माने जाने वाले कर्मविषयक ग्रन्थों का साक्षात् सम्बन्ध श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—दोनों ही जैन परम्पराएं आग्रायणीय पूर्व से मानती हैं और आग्रायणीय पूर्व को दृष्टिवाद नामक बारहवें अंग के अन्तर्गत चौदह पूर्वों में से दूसरा पूर्व कहती हैं। दोनों ही परम्पराएं समान रूप से मानती हैं कि अंग और चौदह पूर्व भगवान महावीर की विशद वाणी का साक्षात् फल है। अर्थात् वर्तमान में विद्यमान समग्र कर्मशास्त्र शब्द रूप से नहीं तो भाव रूप से भगवान महावीर के साक्षात् उपदेश का ही परम्परा से प्राप्त सार है। इसीप्रकार से एक दूसरी मान्यता भी है कि वस्तुतः समस्त [illegible] भावरूप से केवल भगवान महावीरकालीन ही नहीं, बल्कि पूर्व पूर्व [illegible] अन्य तीर्थंकरों से भी पूर्वकाल की है, अतएव अनादि है, किन्तु प्रवाह

रूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थङ्करों द्वारा वे अं विद्याएँ नवीन रूप धारण करती रहती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हु हेमचन्द्राचार्य ने प्रमाण मीमांसा में कहा है—

अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तारविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत् कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रोषीः न कदाचिदनीदृशं जगत्।

अनादिकाल से प्रवाहरूप में चले आ रहे इस कर्मशास्त्र का भगवान भगवान महावीर से लेकर वर्तमान समय तक जो संकलन हुआ है, उसके निम्नलिखित तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र—यह भाग सबसे बड़ा और पहला है। इसका अस्तित्व पूर्व विद्या के विच्छिन्न होने के समय तक माना जाता है। भगवान महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप में पूर्व विद्या विद्यमान रही। चौदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व कर्मप्रवाद है, जो मुख्यतया कर्म विषयक ही था। इसी प्रकार अग्रायणीय पूर्व नामक दूसरे पूर्व में भी कर्मप्राभृत नामक एक भाग था। लेकिन वर्तमान श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का पूर्ण अंश नहीं रहा है।

(२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र—यह विभाग पहले विभाग की अपेक्षा काफी छोटा है, लेकिन वर्तमान अभ्यासियों की दृष्टि से काफी बड़ा है। इसलिए इसे आकर कर्मशास्त्र यह संज्ञा दी है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है और श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के कर्मशास्त्र में यह पूर्वोद्धृत अंश विद्यमान है, ऐसी मान्यता है। साहित्य उद्धार के समय सम्प्रदायभेद रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—(१) कर्म प्रकृति, (१) शतक, (३) पंच संग्रह, (४) सप्ततिका और दिगम्बर सम्प्रदाय में—(१) महाकर्मप्रकृति प्राभृत, (२) कषाय प्राभृत। दोनों सम्प्रदाय अपने-अपने उक्त ग्रन्थों को पूर्वोद्धृत मानती हैं।

(३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र—यह विभाग तीसरी संकलना का परिणाम है। इसमें कर्मविषयक छोटे-बड़े अनेक प्रकरण ग्रन्थों को सम्मिलित किया गया

रूप से अनादि होने पर भी समय-समय पर होने वाले तीर्थङ्करों द्वारा वे अंग विद्याएं नवीन रूप धारण करती रहती हैं। इसी बात को स्पष्ट करते हुए हेमचन्द्राचार्य ने प्रमाण मीमांसा में कहा है—

अनादय एवैता विद्याः संक्षेपविस्तारविवक्षया नवनवीभवन्ति, तत्तत् कर्तृकाश्चोच्यन्ते। किन्नाश्रौषीः न कदाचिदनीदृशं जगत्।

अनादिकाल से प्रवाहरूप में चले आ रहे इस कर्मशास्त्र का भगवान भगवान महावीर से लेकर वर्तमान समय तक जो संकलन हुआ है, उसके निम्नलिखित तीन विभाग किये जा सकते हैं—

(१) पूर्वात्मक कर्मशास्त्र, (२) पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र और (३) प्राकरणिक कर्मशास्त्र।

(१) **पूर्वात्मक कर्मशास्त्र** – यह भाग सबसे बड़ा और पहला है। इसका अस्तित्व पूर्व विद्या के विच्छिन्न होने के समय तक माना जाता है। भगवान महावीर के बाद करीब ९०० या १००० वर्ष तक क्रमिक ह्रास रूप में पूर्व विद्या विद्यमान रही। चौदह पूर्वों में से आठवाँ पूर्व कर्मप्रवाद है, जो मुख्य-तया कर्म विषयक ही था। इसी प्रकार अग्रायणीय पूर्व नामक दूसरे पूर्व में भी कर्मप्राभृत नामक एक भाग था। लेकिन वर्तमान श्वेताम्बर या दिगम्बर साहित्य में पूर्वात्मक कर्मशास्त्र का पूर्ण अंश नहीं रहा है।

(२) **पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र**— यह विभाग पहले विभाग की अपेक्षा काफी छोटा है, लेकिन वर्तमान अभ्यासियों की दृष्टि से काफी बड़ा है। इसलिए इसे आकर कर्मशास्त्र यह संज्ञा दी है। यह भाग साक्षात् पूर्व से उद्धृत है और श्वेताम्बर एवं दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के कर्मशास्त्र में यह पूर्वोद्धृत अंश विद्यमान है, ऐसी मान्यता है। साहित्य उद्धार के समय सम्प्रदायभेद रूढ़ हो जाने के कारण उद्धृत अंश कुछ भिन्न-भिन्न नाम से प्रसिद्ध है। जैसा कि श्वेताम्बर सम्प्रदाय में—(१) कर्म प्रकृति, (१) शतक, (३) पंच संग्रह, (४) सप्ततिका और दिगम्बर सम्प्रदाय में—(१) महाकर्मप्रकृति प्राभृत, (२) कषाय प्राभृत। दोनों सम्प्रदाय अपने-अपने उक्त ग्रन्थों को पूर्वोद्धृत मानते हैं।

(३) **प्राकरणिक कर्मशास्त्र**—यह विभाग तीसरी संकलना का परिणाम

है। आजकल विशेषतया इन्हीं प्रकरण ग्रन्थों के अध्ययन-अध्यापन का प्रचलन है। इन प्रकरणग्रन्थों का अध्ययन करने के वाद पूर्वोद्धृत ग्रन्थों (आकर ग्रन्थों) का अध्ययन करने की परम्परा अभ्यासियों में प्रचलित है। ये प्राकरणिक ग्रन्थ भी महत्वपूर्ण हैं और आकर ग्रन्थों का अभ्यास करने से पूर्व इनका अध्ययन करना जरूरी है।

यह प्राकरणिक कर्मशास्त्र विक्रम की आठवीं-नौवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं-सत्तरहवीं शताब्दी तक निर्मित एवं पल्लवित हुआ है।

संकलना की दृष्टि से कर्मशास्त्र के जैसे तीन तीन विभाग किये गए हैं, वैसे ही भाषा की दृष्टि से भी उसे तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं -- (१) प्राकृत भाषा, (२) संस्कृत भाषा और (३) प्रचलित लोक भाषा।

पूर्वात्मक और पूर्वोद्धृत कर्मशास्त्र का आकलन प्राकृत भाषाओं में हुआ है। प्राकरणिक कर्मशास्त्र का भी वहुत वड़ा भाग प्राकृत भाषा में निवद्ध किया गया है तथा मूलग्रन्थों के अतिरिक्त उन पर टीका-टिप्पण भी प्राकृत पा में लिखित हैं।

प्राकृत भाषा के अनन्तर जब संस्कृत भाषा साहित्य की भाषा बन गई र प्रायः संस्कृत में साहित्य का निर्माण व्यापक रूप में होने लगा तो जैना-र्यों ने भी संस्कृत में कर्मशास्त्र की रचना की एवं अधिकतर संस्कृत भाषा कर्मशास्त्र पर टीका-टिप्पण आदि लिखे। कुछ मूल प्राकरणिक कर्मग्रन्थ स्कृत भाषा में लिखे गये भी उपलब्ध होते हैं।

लोकभाषा में मुख्यतया कर्णाटकी, गुजराती और राजस्थानी हिन्दी—इन न भाषाओं का समावेश होता है। इन भाषाओं में भी कुछ मौलिक कर्म-न्थ लिखे गये हैं। लेकिन उनकी गणना अत्यल्प है। विशेषकर इन भाषाओं ा उपयोग मूल तथा टीकाओं के अनुवाद करने में ही किया गया है। ये टीका-टप्पण, अनुवाद आदि प्राकरणिक कर्मशास्त्रों पर लिखे गये हैं। कर्णाटकी और हन्दी भाषा का आश्रय दिगम्बर साहित्यकारों ने लिया और गुजराती भाषा ा श्वेताम्बर साहित्य मर्मज्ञों ने।

वर्तमान में उपलब्ध कर्मसाहित्य का ग्रन्थमान लगभग सात लाख श्लोक प्रमाण माना गया है और समय की दृष्टि से विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि

से लेकर बीसवीं शताब्दी तक का प्राप्त होता है। इस काल में टीका, चूर्णि, भाष्य, वृत्ति आदि के रूप में आचार्यों ने कर्मशास्त्र को विस्तृतरूप दिया है।

जैन आचार्यों ने कर्मविषयक विचारणा व्यापक रूप से की है। लेकिन भगवान महावीर का शासन श्वेताम्बर और दिगम्बर इन दो शाखाओं में विभाजित हो जाने से यह विचारणा भी विभाजित-सी हो गई। सम्प्रदायभेद इतना कट्टर हो गया कि भगवान महावीर द्वारा उपदिष्ट कर्मतत्त्व पर मिलकर विचार करने का अवसर भी दोनों सम्प्रदायों के विद्वान प्राप्त न कर सके। इसका फल यह हुआ कि मूल विषय में मतभेद न होने पर भी कुछ पारिभाषिक शब्दों, उनकी व्याख्याओं और कहीं-कहीं उनके तात्पर्य में थोड़ा-बहुत भेद हो गया। इन भिन्नताओं पर तटस्थ दृष्टि से विचार करें तो भेद में भी अभेद के दर्शन होते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जैन दर्शन की मौलिक देन कर्मवाद की गरिमा को सुरक्षित रखने में जैनाचार्य सर्वात्मना सजग रहे और कर्मसाहित्य के मूल हार्द को सुरक्षित रखा।

कतिपय प्रमुख कर्मग्रन्थ

वर्तमान में उपलब्ध कर्मग्रन्थों अथवा जिनके होने का पता अन्य ग्रन्थों में उल्लिखित उल्लेखों से लगता है,[1] उनका बहुत-सा-भाग अप्रकाशित है। लेकिन जो ग्रन्थ प्रकाश में आये हैं, उनमें से भी जैन कर्मसाहित्य का महत्त्व स्पष्ट हो जाता है। प्रकाशित ग्रन्थों की सूची देखने से यह ज्ञात होता है कि मूल ग्रन्थ के भाष्य अथवा संस्कृत टीकाएँ प्रकाशित हुई हैं। प्रादेशिक भाषाओं में रचित टीकाएँ अभी भी अप्रकाशित हैं।

प्रस्तुत प्रसंग में प्रकाशित एवं अध्ययन-अध्यापन में अधिकतर प्रचलित कतिपय ग्रन्थों का संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है।

कर्मप्रकृति

इस ग्रन्थ में ४७५ गाथाएँ हैं,जो अग्रायणीय पूर्व नामक द्वितीय पूर्व के आधार पर संकलित की गई हैं। इस ग्रन्थ में आचार्य ने कर्म सम्बन्धी बन्धन, संक्रमण, उद्वर्तना, अपवर्तना, उदीरणा, उपशमन, निधत्ति और निकाचना—इन आठ

करणों एवं उदय तथा सत्ता इन दो अवस्थाओं का वर्णन किया है। ग्रन्थ के प्रारम्भ में ग्रन्थकार ने मंगलाचरण के रूप में भगवान महावीर को नमस्कार किया है एवं कर्माष्टक के आठ करण, उदय और सत्ता— इन दस विषयों का वर्णन करने का संकल्प किया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता शिवशर्मसूरि हैं और उनका समय अनुमानतः विक्रम की पाँचवी शताब्दी माना जाता है। सम्भवतः ये आगमोद्धारक देवर्धिगणि क्षमाश्रमण के पूर्ववर्ती या समकालीन हों। सम्भवतः ये दशपूर्वधर भी हों। लेकिन इन सब सम्भावनाओं पर प्रकाश डालने वाली सामग्री का प्रायः अभाव ही है; फिर भी यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिवशर्म सूरि एक प्रतिभासम्पन्न पारंगत विद्वान थे और उनका कर्मविषयक ज्ञान बहुत ही गहन और सूक्ष्म था। कर्मप्रकृति के अतिरिक्त शतक (प्राचीन पंचम कर्मग्रन्थ) भी आपकी कृति मानी जाती है। एक मान्यता ऐसी भी है कि सप्ततिका (प्राचीन षष्ठ कर्मग्रन्थ) भी आपकी कृति है। दूसरी मान्यता है कि सप्ततिका चन्द्रर्षि महत्तर की कृति है।

कर्मप्रकृति की व्याख्याएँ—कर्मप्रकृति की तीन व्याख्याएँ प्रकाशित हो चुकी हैं। इनमें से एक प्राकृत चूर्णि है। चूर्णिकार का नाम अज्ञात है। सम्भवतः यह चूर्णि सुप्रसिद्ध चूर्णिकार जिनदास गणि महत्तर की हो। संस्कृत की टीकाओं में एक टीका सुप्रसिद्ध टीकाकार मलयगिरिकृत है और दूसरी न्यायाचार्य यशोविजयगणिकृत है। इन तीनों व्याख्याओं में चूर्णि का ग्रन्थमान सात हजार श्लोक प्रमाण, मलयगिरिकृत टीका का ग्रन्थमान आठ हजार श्लोक प्रमाण तथा यशोविजयकृत टीका का ग्रन्थमान तेरह हजार श्लोक प्रमाण है।

पंचसंग्रह

पंचसंग्रह में करीब एक हजार गाथाएँ हैं। इनमें योग, उपयोग, गुणस्थान, कर्मबन्ध, बन्धहेतु, उदय, सत्ता, बन्ध आदि आठ करण एवं इसी प्रकार के अन्य विषयों का विवेचन किया गया है। प्रारम्भ में आठ कर्मों का नाश करने वाले वीर जिनेश्वर को नमस्कार करके महान अर्थ वाले पंचसंग्रह नामक ग्रंथ की रचना का संकल्प किया गया है।

इसके बाद ग्रन्थकार ने 'पंचसंग्रह' नाम की दो प्रकार से सार्थकता बतलाते

हुए लिखा है कि इसमें शतकादि पाँच ग्रंथों को संक्षेप में समाविष्ट किया गया है अथवा पाँच द्वारों का संक्षेप में परिचय दिया है। पाँच द्वारों के नाम क्रमशः इसप्रकार हैं—

(१) योगोपयोग मार्गणा, (२) बन्धक, (३) बन्धव्य, (४) बन्धहेतु और (५) बन्धविधि।

इस ग्रन्थ के रचयिता आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर हैं। ग्रंथकार ने योगोपयोग मार्गणा आदि पाँच द्वारों के नामों का उल्लेख तो अवश्य किया है, लेकिन इन द्वारों के आधारभूत शतक आदि पाँच ग्रंथ कौन-से हैं, इसका संकेत मूल एवं स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। आचार्य मलयगिरि ने इस ग्रन्थ की अपनी टीका में स्पष्ट किया है कि ग्रन्थकार ने शतक, सप्ततिका, कषायप्राभृत, सत्कर्म और कर्मप्रकृति इन पाँच ग्रन्थों का समावेश किया है। इन पाँच ग्रन्थों में से कषायप्राभृत के सिवाय चार ग्रन्थों का आचार्य मलयगिरि ने अपनी टीका में प्रमाण रूप से उल्लेख किया है। इससे सिद्ध है कि कषायप्राभृत को छोड़कर शेष चार ग्रन्थ आचार्य मलयगिरि के समय में विद्यमान थे। इन चार ग्रन्थों में भी आज सत्कर्म अनुपलब्ध है और शेष तीन ग्रन्थ—शतक, सप्ततिका एवं कर्मप्रकृति इस समय उपलब्ध हैं।

पंचसंग्रहकार चन्द्रर्षि महत्तर के समय, गच्छ आदि का उल्लेख उपलब्ध नहीं होता है। अपनी स्वोपज्ञवृत्ति में इतना-सा उल्लेख अवश्य किया है कि वे पार्श्वर्षि के शिष्य थे। इसी प्रकार महत्तर पद के विषय में भी किसी प्रकार का उल्लेख अपनी स्वोपज्ञ टीका में नहीं किया है। सम्भवतः सामान्य प्रचलित उल्लेखों के आधार पर ही इन्हें महत्तर कहा गया है।

आचार्य चन्द्रर्षि महत्तर के समय के विषय में यही कहा जा सकता है कि गर्गर्षि, सिद्धर्षि, पार्श्वर्षि, चन्द्रर्षि आदि ऋषि शब्दान्त नाम विशेष कर नौवीं-दसवी शताब्दि में अधिक प्रचलित थे, अतः ये विक्रम की नौवी-दसवीं शताब्दी में विद्यमान रहे हों। पंचसंग्रह और उसकी स्वोपज्ञ टीका के सिवाय चन्द्रर्षि महत्तर की अन्य कोई कृति उपलब्ध नहीं है।

पंचसंग्रह की व्याख्याएँ—पंचसंग्रह की दो महत्त्वपूर्ण टीकाएँ प्रकाशित

सप्ततिका के कर्ता के विषय में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। कोई चन्द्रर्षि महत्तर को इसका कर्ता मानते हैं और कोई शिवशर्मसूरि को। इस पर अभयदेवसूरि कृत भाष्य, अज्ञातकर्तृक चूर्णि, चन्द्रर्षि महत्तर कृत प्राकृत वृत्ति, मलयगिरि कृत टीका, मेरुतुंगसूरि कृत भाष्यवृत्ति, रामदेव कृत टिप्पण व गुणरत्नसूरि कृत अवचूरि है।

इन छह ग्रन्थों में प्रथम पाँच में उन्हीं विषयों का प्रतिपादन किया गया है, जो देवेन्द्रसूरि कृत पाँच नव्य कर्मग्रंथों में सार रूप से है। सप्ततिका (षष्ठ कर्म ग्रन्थ) में निम्नलिखित विषयों का विवेचन किया गया है—

बन्ध, उदय, सत्ता व प्रकृतिस्थान, ज्ञानावरणीय आदि कर्मों की उत्तर प्रकृतियाँ एवं बन्ध आदि स्थान, आठ कर्मों के उदीरणा स्थान, गुणस्थान एवं प्रकृति बन्ध, गतियाँ एवं प्रकृतियाँ, उपशम श्रेणि व क्षपक श्रेणि तथा क्षपक श्रेणि आरोहण का अन्तिम फल।

नव्य कर्मग्रन्थ

प्राचीन षट् कर्मग्रन्थों में से पाँच कर्मग्रन्थों के आधार पर आचार्य देवेन्द्र सूरि ने जिन पाँच कर्म ग्रन्थों की रचना की है, वे नव्य कर्मग्रन्थ कहे जाते हैं। इन कर्मग्रन्थों के नाम भी वही हैं—कर्मविपाक, कर्मस्तव, बन्धस्वामित्व, षडशीति और शतक। ये पाँचों कर्मग्रंथ क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ व पंचम कर्मग्रन्थ के नाम से प्रसिद्ध हैं। उपर्युक्त पाँच नामों से प्रथम द्वितीय और तृतीय नाम विषय की दृष्टि से और अन्तिम दो नाम गाथा संख्या की दृष्टि से रखे गये हैं।

पाँच नव्य कर्मग्रन्थों के रचयिता देवेन्द्रसूरि है। इन पाँच कर्मग्रंथों की रचना का आधार शिवशर्मसूरि, चन्द्रर्षि महत्तर आदि प्राचीन आचार्यों द्वारा बनाये गये कर्मग्रंथ हैं। देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों में केवल प्राचीन कर्मग्रन्थों का भावार्थ अथवा सार ही नहीं दिया है, अपितु नाम, विषय, वर्णन-क्रम आदि बातें भी उसी रूप में रखी हैं। कहीं-कहीं नवीन विषयों का भी समावेश किया है। इन ग्रन्थों की भाषा प्राचीन कर्मग्रन्थों के समान प्राकृत और छन्द आर्या है।

नव्य कर्मग्रन्थों की व्याख्याएँ—आचार्य देवेन्द्रसूरि ने अपने कर्मग्रन्थों पर स्वोपज्ञ टीका लिखी थी, किन्तु किसी कारण से तृतीय कर्मग्रंथ की टीका नष्ट हो गई। इसकी पूर्ति के लिए बाद में किसी आचार्य ने अवचूरि रूप नई टीका लिखी है। गुणरत्नसूरि व मुनिशेखरसूरि ने पाँचों कर्मग्रन्थों पर अवचूरियाँ लिखी हैं। इनके अतिरिक्त कमलसंयम उपाध्याय आदि ने भी इन कर्मग्रन्थों पर छोटी-छोटी टीकाएँ लिखी हैं। हिन्दी और गुजराती भाषा में भी इन पर पर्याप्त विवेचन किया गया है।

हिन्दी भाषा में महाप्राज्ञ पं. सुखलाल जी की टीकायें करीब ४० वर्ष पूर्व लिखी गई थीं। अब पुनः मरुधर केसरी प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमलजी म० की व्याख्यासहित श्री श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' एवं श्री देवकुमार जैन द्वारा संपादित होकर प्रकाशित हो रहे हैं। इसमें अब तक प्रकाशित कर्मग्रन्थों से कुछ विशिष्टता है। दिगम्बर श्वेताम्बर मान्यताओं का तुलनात्मक अध्ययन एवं अनेक प्रकार के यंत्र व तालिकाएँ भी दी गई हैं।

कर्मप्राभृत

इसको महाकर्मप्रकृतिप्राभृत, षट्खण्डागम आदि भी कहते हैं। इनके रचयिता आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि हैं। इसका रचना समय अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि है।

यह ग्रन्थ ३६००० श्लोक प्रमाण है। इसकी भाषा प्राकृत (शौरसेनी) है। आचार्य पुष्पदन्त ने १७७ सूत्रों में सत्प्ररूपणा अंश और आचार्य भूतबलि ने ६००० सूत्रों में शेष सम्पूर्ण ग्रन्थ लिखा है। कर्मप्राभृत के छह खण्डों के नाम इसप्रकार हैं—

(१) जीवस्थान, (२) क्षुद्रक बन्ध, (३) बन्धस्वामित्वविचय (४) वेदना, (५) वर्गणा, (६) महाबन्ध।

जीवस्थान के अन्तर्गत आठ अनुयोगद्वार और नौ चूलिकाएँ हैं। क्षुद्रकबन्ध के ग्यारह अधिकार हैं। बन्धस्वामित्वविचय में कर्म प्रकृतियों का जीवों के साथ बंध, कर्म प्रकृतियों की गुणस्थानों में व्युच्छित्ति, स्वोदय बन्ध रूप प्रकृतियाँ, परोदय बन्ध रूप प्रकृतियों का कथन किया गया है। वेदना खंड में कृति और वेदना नामक दो अनुयोगद्वार हैं। वर्गणा खण्ड का मुख्य अधिकार बन्धनीय है, जिसमें वर्गणाओं का विस्तृत वर्णन है। इसके अतिरिक्त इसमें

स्पर्श, कर्म, प्रकृति और वन्ध चार अधिकारों का भी अन्तर्भाव किया गया है।

तीस हजार श्लोक प्रमाण महावन्ध नामक छठे खण्ड में प्रकृतिबंध, स्थिति वन्ध, अनुभागवन्ध और प्रदेशवन्ध—इन चार प्रकार के वन्धों का वहुत विस्तार से वर्णन किया गया है। महावन्ध की प्रसिद्धि महाधवला के नाम से भी है।

कर्मप्राभृत की टीकाएँ—वीरसेनाचार्य विरचित धवला टीका कर्म प्राभृत (षट्खंडागम) की अति महत्त्वपूर्ण वृहत्काय व्याख्या है। मूल व्याख्या का ग्रंथमान ७२००० श्लोक प्रमाण है और रचना काल लगभग विक्रम संवत् ९०५ है।

इस व्याख्या के अतिरिक्त इन्द्रनन्दि कृत श्रुतावतार में कर्मप्राभृत की निम्नलिखित टीकाओं के होने का संकेत है। लेकिन वर्तमान में ये टीकाएं अनुपलब्ध हैं।

कुन्दकुन्दाचार्य ने कर्मप्राभृत के प्रथम तीन खण्डों पर परिकर्म नामक वारह हजार श्लोक प्रमाण टीका ग्रंथ लिखा था। यह टीका ग्रन्थ प्राकृत में था। धवला टीका में इस ग्रन्थ का अनेक वार उल्लेख किया गया है।

आचार्य शामकुण्ड ने पद्धति नामक टीका ग्रन्थ कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर लिखा था। कषायप्राभृत पर भी उनकी इसी नाम की टीका थी। इन दोनों टीकाओं का प्रमाण वारह हजार श्लोक प्रमाण है। भाषा प्राकृत-संस्कृत-कन्नड़ मिश्रित थी।

तुम्बुलूराचार्य ने भी कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खंडों तथा कषायप्राभृत पर एक टीका लिखी थी, जिसका नाम चूड़ामणि था। यह टीका चौरासी हजार श्लोक प्रमाण थी और भाषा कन्नड़ थी। इसके अतिरिक्त कर्मप्राभृत के छठे खण्ड पर प्राकृत में पंजिका नामक व्याख्या लिखी थी, जिसका परिमाण सात हजार श्लोक प्रमाण था।

समन्तभद्र स्वामी ने कर्मप्राभृत के प्रथम पाँच खण्डों पर अड़तालीस हजार श्लोक प्रमाण टीका लिखी। धवला में यद्यपि समन्तभद्र कृत आप्त-

मीमांसा आदि के अवतरण उद्धृत किये गये हैं, किन्तु प्रस्तुत टीका का उल्लेख उसमें नहीं पाया जाता है।

बप्पदेव गुरु ने कर्मप्राभृत और कषायप्राभृत पर टीकाएँ लिखी हैं। कर्म प्राभृत के पाँच खण्डों पर लिखी गई टीका का नाम व्याख्याप्रज्ञप्ति था। षष्ट खण्ड पर उनकी व्याख्या संक्षिप्त थी, जो पंचाधिक आठ हजार श्लोक प्रमाण थी। पाँच खण्डों और कषायप्राभृत का टीकाओं का संयुक्त परिमाण साठ हजार श्लोक प्रमाण था। भाषा प्राकृत थी।

कर्मप्राभृत की उपलब्ध टीका धवला के कर्ता का नाम वीरसेन है। ये आर्यनन्दि के शिष्य तथा चन्द्रसेन के प्रशिष्य थे। इनके विद्या गुरु एलाचार्य थे। कषायप्राभृत की टीका जयधवला के प्रारम्भ का एकतिहाई भाग भी इन्हीं वीरसेन का लिखा हुआ है।

यह धवला टीका कर्मशास्त्रवेत्ताओं के लिए द्रष्टव्य है।

कषायप्राभृत

कषायपाहुड़ अथवा कषायप्राभृत को पेज्जदोसपाहुड, प्रेयोद्वेष-प्राभृत अथवा पेज्जदोषप्राभृत भी कहते हैं।

कर्मप्राभृत के समान ही कषायप्राभृत का उद्गम स्थान भी दृष्टिवाद नामक बारहवाँ अंग है। उसके ज्ञानप्रवाद नामक पाँचवें पूर्व की दसवीं वस्तु के पेज्जदोष नामक तीसरे प्राभृत से कषायप्राभृत की उत्पत्ति हुई है।

कषायप्राभृत के रचयिता आचार्य गुणधर है। इन्होंने गाथा सूत्रों में ग्रन्थ को निबद्ध किया है। वैसे तो कषायप्राभृत की २३३ गाथाएँ मानी हैं, परन्तु वस्तुतः इस ग्रन्थ में १८० गाथाएँ हैं और शेष ५३ गाथाएँ कषायप्राभृतकार गुणधराचार्यकृत न होकर संभवतः आचार्य नागहस्ति कृत हों, जो व्याख्या के रूप में बाद में जोड़ी गई हैं।

कषायप्राभृत में जयधवलाकार के अनुसार निम्नलिखित १५ अर्थाधिकार हैं—

(१) प्रेयोद्वेष, (२) प्रकृतिविभक्ति, (३) स्थितिविभक्ति, (४) अनुभागविभक्ति, (५) प्रदेशविभक्ति—क्षीणाक्षीणप्रदेश—स्थित्यन्तिक

प्रदेश, (६) बन्धक, (७) वेदक, (८) उपयोग, (९) चतुःस्थान, (१०) व्यंजन, (११) सम्यक्त्व, (१२) देशविरति, (१३) संयम, (१४) चारित्रमोहनीय की उपशामना, (१५) चारित्रमोहनीय की क्षपणा।

इस स्थान पर जयधवलाकार ने यह भी निर्देश किया है कि इसी तरह अन्य प्रकारों से भी पन्द्रह अर्थाधिकारों का प्ररूपण कर लेना चाहिए। इससे प्रतीत होता है कि कषायप्राभृत के अर्थाधिकारों की गणना में एकरूपता नहीं रही है।

कषायप्राभृत की टीकाएँ—इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार के उल्लेख के अनुसार कषायप्राभृत पर निम्नलिखित टीकाएँ लिखी गई हैं—

(१) आचार्य यतिवृषभकृत चूर्णिसूत्र, (२) उच्चारणाचार्यकृत उच्चारणावृत्ति अथवा मूल उच्चारण, (३) आचार्य शामकुण्डकृत पद्धति टीका, (४) तुम्बुलूराचार्यकृत चूडामणि व्याख्या, (५) वप्पदेवगुरुकृत व्याख्याप्रज्ञप्ति वृत्ति, (६) आचार्य वीरसेन जिनसेन कृत जयधवल टीका। इन छह टीकाओं में से प्रथम चूर्णि व जयधवला ये दो टीकाएँ वर्तमान में उपलब्ध होती हैं। यतिवृषभकृत चूर्णि छह हजार श्लोक प्रमाण तथा जयधवला टीका साठ हजार श्लोक प्रमाण है।

गोम्मटसार

इसके दो भाग हैं—(१) जीवकाण्ड और (२) कर्मकाण्ड। रचयिता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं, जो विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दी में हुए हैं। ये चामुण्डराय के समकालीन थे।

गोम्मटसार की रचना चामुण्डराय, जिनका कि दूसरा नाम गोम्मटराय था—के प्रश्न के अनुसार सिद्धान्त ग्रन्थों के सार रूप में हुई है, अतः इस ग्रन्थ का नाम गोम्मटसार रखा गया। इसका एक नाम पंचसंग्रह भी है, क्योंकि इसमें बन्ध, बध्यमान, बन्धस्वामी, बन्धहेतु व बन्धभेद – इन पाँच विषयों का वर्णन है।

गोम्मटसार में १७०५ गाथाएँ हैं जिसमें से जीवकाण्ड में ७३३ और कर्मकांड में ९७२ गाथाएँ हैं। जीवकाण्ड में महाकर्मप्राभृत के सिद्धान्त सम्बन्धी जीवस्थान, क्षुद्रबन्ध, बन्धस्वामी, वेदनाखण्ड और वर्गणाखण्ड—इन पांच विषयों

का विवेचन है। इसमें गुणस्थान, जीवसमास, पर्याप्ति, प्राण, संज्ञा, १४ मार्गणा और उपयोग इन बीस अधिकारों में जीव की विविध अवस्थाओं का वर्णन किया गया है।

कर्मकाण्ड में कर्म सम्बन्धी निम्न नौ प्रकरण हैं—

(१) प्रकृतिसमुत्कीर्तन, (२) बन्धोदय सत्व, (३) सत्वस्थान भंग, (४) त्रिचूलिका, (५) स्थान समुत्कीर्तन, (६) प्रत्यय, (७) भाव चूलिका, (८) त्रिकरण चूलिका, (९) कर्मस्थितिरचना।

गोम्मटसार की टीकाएँ—गोम्मटसार पर सर्वप्रथम गोम्मटराय—चामुण्डराय ने कन्नड़ में वृत्ति लिखी, जिसका अवलोकन स्वयं नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती ने किया। इस वृत्ति के आधार पर केशववर्णी ने संस्कृत में टीका लिखी। फिर अभयचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती ने मन्दप्रबोधिनी नामक संस्कृत टीका लिखी। इन दोनों टीकाओं के आधार पर पं० टोडरमलजी ने सम्यग्ज्ञान चन्द्रिका नामक हिन्दी टीका लिखी। इन टीकाओं के आधार पर जीवकाण्ड का हिन्दी अनुवाद श्री पं० खूबचन्द्रजी ने व कर्मकाण्ड का अनुवाद श्री पं० मनोहरलालजी ने किया है। श्री जे० एल० जैनी ने इसका अंग्रेजी में सुन्दर अनुवाद किया है।

लब्धिसार (क्षपणासार गर्भित)

इसके रचयिता श्री नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती हैं। लब्धिसार में कर्म से मुक्त होने के उपाय का प्रतिपादन किया है। लब्धिसार की ६४९ गाथाएँ हैं, जिनमें २६१ गाथाएँ क्षपणासार की हैं। इसमें तीन प्रकरण हैं—(१) दर्शनलब्धि, (२) चारित्रलब्धि, (३) क्षायिकचारित्र। इनमें क्षायिक चारित्र प्रकरण क्षपणासार के रूप में स्वतन्त्रग्रंथ भी गिना जाता है।

लब्धिसार पर केशववर्णी ने संस्कृत में तथा पं० टोडरमल्ल जी ने हिन्दी में टीका लिखी है। संस्कृत टीका चारित्र लब्धि प्रकरण तक ही है। हिन्दी टीकाकार टोडरमल्लजी ने चारित्रलब्धि प्रकरण तक तो संस्कृत टीका के अनुसार व्याख्यान किया है, किन्तु क्षायिक चारित्र प्रकरण, अर्थात् क्षपणासार का व्याख्यान माधवचन्द कृत संस्कृत गद्यात्मक क्षपणासार के अनुसार किया है।

यहाँ पर उल्लिखित ग्रंथों का पूर्ण रूप से अध्ययन किया [illegible] साहित्य का तलस्पर्शी ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

उक्त जानकारी के अनन्तर अभी तक मुद्रित ग्रन्थों के नाम, रचयिता, समय आदि का संक्षेप में संकेत कर देना उचित होगा। इन ग्रंथों में श्वेताम्बर एवं दिगम्बर दोनों सम्प्रदायों के कर्मग्रन्थों का उल्लेख किया गया है —

ग्रंथनाम	कर्ता	श्लोकप्रमाण	रचनाकाल
महाकर्मप्रकृति प्राभृत अथवा कर्मप्राभृत (षटखंडशास्त्र)	पुष्पदन्त तथा भूतवलि	३६०००	अनुमानतः विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दि
धवला टीका	वीरसेन	७२०००	लगभग वि०सं०९०५
कषायप्राभृत	गुणधर	गा० २३६	अनुमानतः विक्रम की तीसरी शताब्दि
चूर्णि	यतिवृषभ	६०००	अनुमानतः विक्रम की छठी शताब्दि
जयधवला टीका	वीरसेन तथा जिनसेन	६००००	विक्रम की नौवीं दसवीं शताब्दि
गोम्मटसार	नेमिचन्द्र-सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० १७०५	विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि
संस्कृत टीका	केशववर्णी		
संस्कृत टीका	अभयचन्द्र		
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १९ वीं शताब्दि
लब्धिसार (क्षपण सार गर्भित)	नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती	गा० ६५०	विक्रम की ग्यारहवीं शताब्दि
संस्कृत टीका	केशववर्णी	—	
हिन्दी टीका	टोडरमल्ल		विक्रम की १९ वीं शताब्दि
पंचसंग्रह (संस्कृत)	अमितगति	श्लो. १४५६	वि० सं० १०७३
पंचसंग्रह (प्राकृत)		गा० १३२४	
पंचसंग्रह (संस्कृत)	श्रीपाल सुतडड्ढ	श्लो. १२४३	वि० १७ वीं शताब्दि

ग्रन्थनाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचना काल
कर्मप्रकृति	शिवशर्मसूरि	गा० ४७५	संभवतः विक्रम की ५ वीं शताब्दि
चूर्णि		७०००	वि० की १२ वीं स० से पूर्व
वृत्ति	मलयगिरि	८०००	वि० १२-१३ स०
वृत्ति	यशोविजय	१३०००	वि० १८ वीं स०
पंचसंग्रह	चन्द्रर्षि महत्तर	गा० ९६३	
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	९०००	
बृहद्वृत्ति	मलयगिरि	१८८५०	विक्रम की १२-१३वी शताब्दि
प्राचीन षट् कर्मग्रन्थ		गा० ५४७,५६१, ५६७	
(अ) कर्म विपाक	गर्गर्षि	गा० १६८	
वृत्ति	परमानन्दसूरि	९२२	वि० १२-१३ वी शताब्दी
व्याख्या		१०००	
(आ) कर्मस्तव		गा० ५७	
भाष्य		गा० २४	
भाष्य		गा० ३२	संभवतः वि० सं०
वृत्ति	गोविन्दाचार्य	१०९०	११८८ से पूर्व
(इ) बन्ध-स्वामित्व	(गा० ५०)		
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	५६०	वि० सं० ११७२
(ई) षडशीति	जिनवल्लभगणि	गा० ८६	
भाष्य		गा० ३८	
वृत्ति	हरिभद्रसूरि	८५०	वि० की १२
वृत्ति	मलयगिरि	२१४०	विक्रम की

ग्रन्थ-नाम	कर्ता	श्लोक प्रमाण	रचनाकाल
(उ) शतक	शिवशर्मसूरि,	गा० १११	
भाष्य		गा० २४	
बृहद् भाष्य	चक्रेश्वर सूरि	१४१३	वि० सं० ११७९
चूर्णि		२३२२	
सप्ततिका	शिवशर्मसूरि अथवा चन्द्रर्षि महत्तर	७५	
भाष्य	अभयदेवसूरि	गा० १९१	विक्रम की ग्यारहवीं-बारहवीं शताब्दि
वृत्ति	मलयगिरि	३७८०	वि० की १२-१३ वीं श०
भाष्यवृत्ति	मेरुतुंगसूरि	४१५०	वि० सं० १४४९
सार्द्ध शतक	जिनवल्लभ गणि	गा० १५५	वि० १२ वीं शताब्दि
वृत्ति	धनेश्वर सूरि	३७००	वि० सं० ११७१
नवीन पंच कर्मग्रन्थ	देवेन्द्रसूरि	गा० ३०४	वि० की १३-१४ वीं श०
स्वोपज्ञ टीका (बन्धस्वामित्व को छोड़कर)		१०१३१	वि० की १३-१४ वीं शताब्दि
बन्धस्वामित्व-अवचूरि		४२६	
षट् कर्मग्रन्थ बालावबोध	जयसोम	१७०००	वि० की १७ वीं शता०
भावप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० ३०	वि० सं० १६२३
स्वोपज्ञ वृत्ति	,,	३२५	,,
बन्धहेतूदयत्रिभंगी	हर्षकुलगणि	गा० ६५	वि० १६ वीं श०
वृत्ति	वानरर्षि गणि	११५०	वि० सं० १६०२
बन्धोदयसत्ताप्रकरण	विजयविमल गणि	गा० २४	वि० १७ वीं श० का प्रारम्भ
ोपज्ञ अवचूरि	,,	३००	,,
र्मसंवेद्यभंग प्रकरण	देवचन्द्र	४००	
कमकरण	प्रेमविजयगणि		वि० सं० १६८५

इस प्रकरण के लेखन में जैन साहित्य का बृहद् इतिहास भाग ४ (पा० वि० शो०सं० ...णसी) का आधार लिया गया है।

कर्मग्रन्थ की मूल गाथाएँ

प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएँ

सिरि वीर जिणं वंदिय, कम्मविवागं समासओ वुच्छं ।
कीरइ जिएण हेउहिं, जेणं तो भण्णए कम्मं ।।१।।

पगइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिट्ठंता ।
मूलपगइऽट्ठ उत्तरपगई अडवन्नसय भेयं ।।२।।

इह नाणदंसणावरणवेयमोहाउ नामगोयाणि ।
विग्घं च पणनवदुअट्ठवीसचउतिसयदुपणविहं ।।३।।

मइ-सुय-ओही-मण-केवलाणि नाणाणि तत्थ मइनाणं ।
वंजणवग्गह चउहा मणनयणविणिंदिय चउक्का ।।४।।

अत्थुग्गह ईहावायधारणा करणमाणसेहिं छहा ।
इय अट्ठवीसभेयं चउदसहा वीसहा व सुयं ।।५।।

अक्खर सन्नी सम्मं साइअं खलु सपज्जवसियं च ।
गमियं अंगपविट्ठं सत्तवि एए सपडिवक्खा ।।६।।

पज्जय अक्खर पय संघाया पडिवत्ति तह य अणुओगो ।
पाहुडपाहुड पाहुडवत्थू पुव्वा य स-समासा ।।७।।

अणुगामि वड्ढमाणय पडिवाईयरविहा छहा ओही ।
रिउमइ विउलमई मणनाणं केवलमिगविहाणं ।।८।।

एसिं जं आवरणं पडुव्व चक्खुस्स तं तयावरणं ।
दंसणचउ पणनिद्दा वित्तिसमं दंसणावरणं ।।९।।

चक्खूदिट्ठि अचक्खू सेसिंदिय ओहि केवलेहिं च ।
दंसणमिह सामन्नं तस्सावरणं तयं चउहा ।।१०।।

सुहपडिबोहा निद्दा निद्दानिद्दा य दुक्खपडिबोहा ।
पयला ठिओवविट्ठस पयलपयला य चंकमओ ।।११।।

दिणचिंतियत्थकरणी थीणद्धी अद्धचक्कि अद्धबला ।
महुलित्तखग्गधारालिहणं व दुहा उ वेयणियं ।।१२।।

ओसन्नं सुरमणुए सायमसायं तु तिरियनरएसु ।
मज्जं व मोहणीयं दुविहं दंसणचरणमोहा ।।१३।।

दंसणमोहं तिविहं सम्मं मीसं तहेव मिच्छत्तं ।
सुद्धं अद्धविसुद्धं अविसुद्धं तं हवइ कमसो ।।१४।।

जियअजिय पुण्णपावासव संवरबन्धमुक्खनिज्जरणा ।
जेणं सद्दहइयं तयं सम्मं खइगाइबहुभेयं ।।१५।।

मीसा न रागदोसो जिणधम्मे अंतमुहजहा अन्ने ।
नालियरदीवमणुणो मिच्छं जिणधम्मविवरीयं ।।१६।।

सोलस कसाय नव नोकसाय दुविह चरित्तमोहणियं ।
अण अप्पच्चक्खाणा पच्चक्खाणा य संजलणा ।।१७।।

जाजीववरिसचउमासपक्खगा नरयतिरिय नर अमरा ।
सम्माणुसव्वविरईअहखायचरित्तघायकरा ।।१८।।

जलरेणु पुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो ।
तिणिसलयाकट्ठट्ठियसेलत्थंभोवमो माणो ॥१९॥

मायावलेहिगोमुत्तिमिढसिंगघणवंसिमूलसमा ।
लोहो हलिद्दखंजणकद्दमकिमिरागसामाणो ॥२०॥

जस्सुदया होइ जिए हास रई अरइ सोग भय कुच्छा ।
सनिमित्तमन्नहा वा तं इह हासाइमोहणियं ॥२१॥

पुरिसित्थि तदुभय पइ अहिलासो जव्वसा हवइ सोउ ।
थीनरनपुवेउदयो फुंफुमतणनगरदाहसमो ॥२२॥

सुरनरतिरिनरयाऊ हडिसरिसं नामकम्म चित्तिसमं ।
वायालतिनवइविहं तिउत्तरसयं च सत्तट्ठी ॥२३॥

गइजाइतणुऊवंगा बन्धणसंघायणाणि संघयणा ।
संठाणवण्णगन्धरसफास अणुपुव्वि विहगगई ॥२४॥

पिंडपयडित्ति चउदस, परघा उस्सास आयवुज्जोयं ।
अगुरुलहुतित्थनिमणोवघायमिय अट्ठपत्तेया ॥२५॥

तस वायर पज्जत्त पत्तेय थिरं सुभं च सुभगं च ।
सुसराइज्ज जसं तसदसगं थावरदसं तु इमं ॥२६॥

थावर सुहम अपज्जं साहारण अथिर असुभ दुभगाणि ।
दुस्सरऽणाइज्जाजसमिय नामे सेयरा वीसं ॥२७॥

तसचउ थिरछक्कं अथिरछक्क सुहमतिग थावरचउक्कं ।
सुभगतिगाइविभासा तदाइसंखाहि पयडीहि ॥२८॥

वण्णचउ अगुरुलहुचउ तसाइदुतिचउरछक्कमिच्चाई ।
इय अन्नावि विभासा तयाइ संखाहि पयडीहि ॥२९॥

गइयाईण उ कमसो चउपणपणतिपणपंचछच्छक्कं ।
पणदुगपणट्ठचउदुग इय उत्तरभेयपणसट्ठी ॥३०॥

अडवीस-जुया तिनवइ संते वा पनरबंधणे तिसयं ।
बंधणसंघायगहो तणूसु सामन्नवण्णचउ ॥३१॥

इय सत्तट्ठी बंधोदए य न य सम्ममीसया बंधे ।
बंधुदए सत्ताए वीसदुवीसअट्ठवन्नसयं ॥३२॥

निरयतिरिनरसुरगई इगवियतिय चउपणिंदिजाइओ ।
ओरालविउव्वाहारगतेयकम्मण पणसरीरा ॥३३॥

बाहूरु पिट्ठि सिर उर उयरंग उवंग अंगुलीपमुहा ।
सेसा अगोवंगा पढमतणुतिगस्सुवंगाणि ॥३४॥

उरलाइपुग्गलाणं निवद्धवज्झंतयाण संवन्धं ।
जं कुणइ जउसमं तं उरलाईबंधणं नेयं ॥३५॥

जं संघायइ उरलाइ पुग्गले तणगणं व दंताली ।
तं संघायं बंधणमिव तणुनामेण पंचविहं ॥३६॥

ओरालविउव्वाहारयाण सगतेयकम्मजुत्तणा ।
नव बंधणाणिइयरदुसहियाणं तिन्नि तेसिं च ॥३७॥

संघयणमट्ठिनिचओ तं छद्धा वज्जरिसहनाराय ।
तहय रिसहनारायं नारायं अद्धनारायं ॥३८॥

कीलिअ छेवट्ठं इहरिसहो पट्टो य कीलिया वज्जं ।
उभओ मक्कडबंधो नाराय इममुरालंगे ॥३९॥

समचउरंसं निग्गोहसाइखुज्जाइ वामणं हुंडं ।
संठाणा वन्ना किण्हनीललोहियहलिद्दसिया ॥४०॥

सुरहिदुरही रसा पण तित्तकडुकसाय अंबिला महुरा ।
फासा गुरुलहुमिउखरसीउण्ह सिणिद्धरुक्खऽट्ठा ॥४१॥

नीलं कसिणं दुगंधं तित्तं कडुय गुरुं खर रुक्ख ।
सीयं च असुहनवगं इक्कारसगं सुभं सेसं ॥४२॥

चउह गइव्वणुपुव्वीगइ पुव्विदुगं तिगं नियाउजुयं ।
पुव्वीउदओ वक्के सुहअसुह वसुट्ट विहगगई ॥४३॥

परघाउदया पाणी परेसिं वलिणं पि होइ दुद्धरिसो ।
ऊससणलद्धिजुत्तो हवेइ ऊसासनामवसा ॥४४॥

रविबिंवे उ जियंगं तावजुयं आयवाउ न उ जलणे ।
जमुसिणफासस्स तहिं लेहियवन्नस्स उदउ त्ति ॥४५॥

अणुसिणपयासरूवं जियंगमुज्जोयए इहुज्जोया ।
जइदेवुत्तरविक्कियजोइसखज्जोयमाइव्व ॥४६॥

अंगं न गुरु न लहुयं जायइ जीवस्स अगुरुलहुउदया ।
तित्थेण तिहुयणस्स वि पुज्जो से उदओ केवलिणो ॥४७॥

अङ्गोवंगनियमणं निम्माणं कुणइ सुत्तहारसमं ।
उवघाया उवहम्मइ सतणुवयवलं विगाईहिं ॥४८॥

वितिचउपणिंदिय तसा वायरओ वायरा जिया थूला ।
नियनियपज्जत्तिजुया पज्जत्ता लद्धिकरणेहिं ॥४९॥

पत्तेय तणू पत्ते उदयेणं दंतअट्ठिमाइ थिरं ॥
नामुवरि सिराइ सुहं सुभगाओ सव्वजणइट्ठो ॥५०॥

सुसरा मुहरसुहझुणी आइज्जा सव्वलोयगिज्झवओ ।
जसओ जसकित्तीओ थावरदसगं विवज्जत्थं ॥५१॥

गोयं दुहुच्चनीयं कुलाल इव सुघऽभुंभलाईयं ।
विग्घं दाणे लाभे भोगुवभोगेसु वीरिए य ।।५२।।

सिरिहरियसमं जह पडिकूलेण तेण रायाई ।
न कुणइ दाणाईय एवं विग्घेण जीवो वि ।।५३।।

पडिणीयत्तण निन्हव उवघाय पओस अंतराएणं ।
अच्चासायणयाए आवरण दुगं जिओ जयइ ।।५४।।

गुरुभत्तिखंतिकरुणा-वयजोगकसायविजयदाणजुओ ।
दढधम्माई अज्जइ सायमसायं विवज्जयओ ।।५५।।

उम्मग्गदेसणामग्गनासणा देवदव्वहरणेहिं ।
दंसणमोहं जिणमुणिचेइय संघाइ पडिणीओ ।।५६।।

दुविहं पि चरणमोहं कसायहासाइ विसय विवसमणो ।
बंधइ नरयाउ महारंभपरिग्गहरओ रुद्दो ।।५७।।

तिरियाउ गूढहियओ सढो ससल्लो तहा मणुस्साउ ।
पयईइ तणुकसाओ दाणरुई मज्झिमगुणो अ ।।५८।।

अविरयमाइ सुराउं बालतवोऽकामनिज्जरो जयइ ।
सरलो अगारविल्लो सुहनामं अन्नहा असुहं ।।५९।।

गुणपेही मयरहिओ अज्झयणऽज्झावणारुई निच्चं ।
पकुणइ जिणाइ भत्तो उच्चं नीयं इयरहा उ ।।६०।।

जिणपूयाविग्घकरो हिंसाइपरायणो जयइ विग्घं ।
इय कम्मविवागोयं लिहिओ देविन्दसूरिहिं ।।६१।।

।। प्रथम कर्मग्रन्थ की गाथाएं समाप्त ।।

द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथायें

तह थुणिमो वीरजिणं जह गुणठाणेसु सयलकम्माइं ।
वन्धुदओदीरणयासत्तापत्ताणि खवियाणि ।।१।।

मिच्छे सासण मीसे अविरय देसे पमत्त अपमत्ते ।
नियट्टि अनियट्टि सुहुमुवसम खीण सजोगि अजोगिगुणा ।।२।।

अभिनवकम्मग्गहणं, बंधो ओहेण तत्थ वीस-सयं ।
तित्थयराहारग-दुगवज्जं मिच्छंमि सतर-सयं ।।३।।

नरयतिग जाइथावरचउ, हुंडायवछिवट्ठनपुमिच्छं ।
सोलंतो इगहियसउ, सासणि तिरिथीणदुहगतिगं ।।४।।

अणमज्झागिइसंघयणचउ, निउज्जोयकुखगइत्थि त्ति ।
पणवीसंतो मीसे चउसयरि दुआउयअवन्धा ।।५।।

सम्मे सगसयरि जिणाउवंधि, वइर नरतिग वियकसाया ।
उरलदुगंतो देसे, सत्तट्ठी तिअ कसायंतो ।।६।।

तेवट्ठि पमत्ते सोग अरइ अथिरदुग अजस अस्सायं ।
वुच्छिज्ज छच्च सत्त व, नेइ सुराउं जया निट्ठं ।।७।।
गुणसट्ठि अप्पमत्ते सुराउवंधं तु जइ इहागच्छे ।
अन्नह अट्ठावण्णा जं आहारगदुगं वन्धे ।।८।।

अडवन्न अपुव्वाइमि निद्‌ददुगतो छपन्न पणभागे।
सुरदुग पणिंदि सुखगइ तसनव उरलविणु तणुवंगा ॥९॥

समचउर निमिण जिण वण्णअगुरुलहुचउ छलंसि तीसंतो।
चरमे छवीसबधो हासरईकुच्छभयभेओ ॥१०॥

अनियट्टिठ भागपणगे, इगेगहीणो दुवीसविहवन्धो।
पुमसंजलणचउण्हं, कमेण छेओ सतर सुहुमे ॥११॥

चउदंसणुच्चजसनाणविग्घदसगं ति सोलसुच्छेओ।
तिसु सायवन्ध छेओ सजोगि बन्धं तुणंतो अ ॥१२॥

उदओ विवागवेयणमुदीरण अपत्ति इह दुवीससयं।
सतरसयं मिच्छे मीस-सम्म-आहार-जिणऽणुदया ॥१३॥

सुहुम-तिगायव-मिच्छं मिच्छंतं सासणे इगारसयं।
निरयाणुपुव्विणुदया अण-थावर-इगविगलअंतो ॥१४॥

मीसे सयमणुपुव्वीणुदया मीसोदएण मीसंतो।
चउसयमजए सम्माणुपुव्वि-खेवा बिय-कसाया ॥१५॥

मणुतिरिणुपुव्वि विउवट्‌ठ दुहग अणाइज्जदुग सतरछेओ।
सगसीइ देसि तिरिगइआउ निउज्जोय तिकसाया ॥१६॥

अट्‌ठच्छेओ इगसी पमत्ति आहार-जुगल-पक्खेवा।
थीणतिगाहारगदुग छओ छस्सयरि अपमत्ते ॥१७॥

सम्मत्तिमसंघयणतियगच्छेओ बिसत्तरि अपुव्वे।
हासाइछक्कअंतो छसट्‌ठि अनियट्‌टिवेयतिगं ॥१८॥

संजलणतिगं छच्छेओ सट्‌ठि सुहुमंमि तुरियलोभंतो।
उवसंतगुणे गुणसट्‌ठि रिसहनारायदुगअंतो ॥१९॥

सगवन्न खीण दुचरमि निद्ददुगंतो य चरमि पणपन्ना ।
नाणंतरायदंसण-चउ छेओ सजोगि बायाला ॥२०॥

तिथुदया उरलाऽथिरखगइदुग परित्ततिग छ संठाणा ।
अगुरुलहुवन्नचउ निमिणतेयकम्माइसंघयणं ॥२१॥

दूसर सूसर सायासाएगयरं च तीस वुच्छेओ ।
वारस अजोगि सुभगाइज्जजसन्नयरवेयणियं ॥२२॥

तसतिग पणिंदि मणुयाउगइ जिणुच्चं ति चरमसमयंता ।
उदउव्वुदीरणा परमपमत्ताईसगगुणेसु ॥२३॥

एसा पयडि—तिगूणा वेयणियाऽहारजुगल थीण तिगं ।
मणुयाउ पमत्तंता अजोगि अणुदीरगो भगवं ॥२४॥

सत्ता कम्माण ठिई बंधाई-लद्ध-अत्त-लाभाणं ।
संते अडयालसयं जा उवसमु विजिणु वियतइए ॥२५॥

अपुव्वाइचउक्के अण-तिरि-निरयाउ विणु वियालसयं ।
सम्माइ चउसु सत्तग-खयम्मि इगचत्त-सयमहवा ॥२६॥

खवगं तु पप्प चउसु वि पणयालं नरयतिरिसुराउ विणा ।
सत्तग विणु अडतीसं जा अनियट्टी पढमभागो ॥२७॥

थावर तिरि निरयायव दुग थीणतिगेग विगल साहारम् ।
सोलखओ दुवीससयं वियंसि वियतियकसायंतो ॥२८॥

तइयाइसु चउदसतेरवार छपण चउतिहियसय कमसो ।
नपुइत्थिहासछगपुंसतुरियकोहमयमायखओ ॥२९॥

सुहुमि दुसय लोहन्तो खीणदुचरिमेगभओ दुनिद्दखओ ।
नवनवइ चरम समए चउ दंसणनाण विग्घन्तो ॥३०॥

पणसीइ सयोगि अजोगि दुचरिमे देवखगइ गंधदुगं।
फासट्ठ वन्नरस तणु वन्धण संघायपण निमिणं ॥३१॥

संघयणअथिरसंठाणं छक्क अगुरुलहुचउ अपज्जत्तं।
सायं व असायं वा परित्तुवंगतिग सुसर नियं ॥३२॥

विसयरिखओ य चरिमे तेरस मणुयतसतिग जसाइज्जं।
सुभगजिणुच्चपणिंदिय सायासाएगयरछेओ ॥३३॥

नरअणुपुव्वि विणा वा वारस चरिम समयंमि जो खविउं।
पत्तो सिद्धिं देविन्दवंदियं नमह तं वीरं ॥३४॥

॥ द्वितीय कर्मग्रन्थ की गाथाएँ समाप्त ॥

तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथाएं

वंधविहाणविमुक्कं, वंदिय सिरिवद्धमाणजिणचंदं ।
गइयाईसुं वुच्छं समासओ वंधसामित्तं ॥१॥

जिण सुरविउवाहारदु देवाउ य नरयसुहुमविगलतिग ।
एगिंदि थावराऽयव नपु मिच्छं हुंड छेवट्ठं ॥२॥

अण मज्झागिइ संघयण कुखग निय इत्थि दुहगथीणतिग ।
उज्जोयतिरि दुगं तिरि नराउ नर उर लदुगरिसहं ॥३॥

सुरइगुणवीसवज्जं इगसउ ओहेण वंधहिं निरया ।
तित्थ विणा मिच्छि सय सासणि नपुचउ विणा छनुइ ॥४॥

विणु अणछवीस मीसे विसयरि सम्मम्मि जिणनराउ जुआ ।
इय रयणाइसु भंगो पंकाइसु तित्थयरहीणो ॥५॥

अजिणमणुआउ ओहे सत्तमिए नरदुगुच्च विणु मिच्छे ।
इगनवई सासणे तिरिआउ नपुंसचउवज्जं ॥६॥

अणचउवीसविरहिया सनरदुगुच्चा य सयरि मीसदुगे ।
सतरसउ ओहि मिच्छे पजतिरिया विणु जिणाहारं ॥७॥

विणु नरयसोल सासणि सुराउ अण एगतीस विणु मीसे ।
ससुराउ सयरि सम्मे वीयकसाए विणा देसे ॥८॥

इय चउगुणेसु वि नरा परमजया सजिण ओहु देसाई ।
जिणइक्कारसहीणं नवसउ अपजत्ततिरियनरा ॥९॥

निरय व्व सुरा नवरं ओहे मिच्छे इगिंदितिगसहिया ।
कप्पदुगे वि य एवं जिणहीणो जोइभवणवणे ॥१०॥

रयण व्व सणंकुमाराई आणयाई उजोयचउरहिया ।
अपजतिरिय व्व नवसयमिगिंदिपुढविजलतरुविगले ॥११॥

छनवइ सासणि विणु सुहुमतेर केइ पुण बिंति चउनवइं ।
तिरियनराऊहिं विणा तणुपज्जत्तिं न ते जंति ॥१२॥

ओहु पणिंदि तसे गइतसे जिणिक्कार नरतिगुच्च विणा ।
मणवयजोगे ओहो उरले नरभंगु तम्मिस्से ॥१३॥

आहारछग विणोहे चउदससउ मिच्छि जिणपणगहीणं ।
सासणि चउनवइ विणा नरतिरिआऊ सुहुमतेर ॥१४॥

अणचउवीसाइ विणा जिणपणजुय सम्मि जोगिणो सायं ।
विणु तिरिनराउ कम्मे वि एवमाहारदुगि ओहो ॥१५॥

सुरओहो वेउव्वे तिरियनराउ रहिओ य तम्मिस्से ।
वेयतिगाइम बिय तिय कसाय नव दु चउ पंच गुणा ॥१६॥

संजलणतिगे नव दस लोभे चउ अजइ दु ति अनाणतिगे ।
बारस अचक्खु चक्खुसु पढमा अहखाइ चरमचऊ ॥१७॥

मणनाणि सग जयाई समइय छेय चउ दुन्नि परिहारे ।
केवलिदुगि दो चरमाऽजयाइ नव मइसुओहिदुगे ॥१८॥

अड उवसमि चउ वेयगि खइए इक्कार मिच्छतिगि देसे ।
सुहुमि सठाणं तेरस आहारगि नियनियगुणोहो ॥१९॥

परमुवसमि वट्टंता आउ न बंधति तेण अजयगुणे ।
देवमणुआउहीणो देसाइसु पुण सुराउ विणा ।।२०।।

ओहे अट्ठारसयं आहारदुगूण आइलेसतिगे ।
तं तित्थोणं मिच्छे साणाइसु सव्वहिं ओहो ।।२१।।

तेऊ नरयनवूणा उजोयचउ नरयवार विणु सुक्का ।
विणु नरयवार पम्हा अजिणाहारा इमा मिच्छे ।।२२।।

सव्वगुणभव्वसन्निसु ओहु अभव्वा असन्नि मिच्छसमा ।
सासणि असन्नि सन्नि व्व कम्मभंगो अणाहारे ।।२३।।

तिसु दुसु सुक्काइ गुणा चउ सग तेर त्ति बंधसामित्तं ।
देविन्दसूरिलिहियं नेयं कम्मत्थयं सोउं ।।२४।।

।। तृतीय कर्मग्रन्थ की गाथायें समाप्त ।।

कर्मग्रन्थ—भाग एक से तीन तक का

संक्षिप्त शब्द-कोश

अंग—शरीर, शरीर का अवयव।

अंगपविट्ठ—अंगप्रविष्ट आचारांग आदि १२ आगम

अंगोवंग—अंग, उपांग, शरीर की रेखा, पर्व आदि

अंतमुहु (त्त)—अन्तर्मुहूर्त (एक समय कम ४८ मिनट)

अंतराअ—अन्तराय, विघ्न, रुकावट

अकामनिज्जर—अकामनिर्जर (बिना इच्छा के कष्ट सहन कर क निर्जरा करने वाला)

अगारविल्ल—निरभिमान

अगुरुलहु—अगुरुलघु नामकर्म

अगुरुलहुचउ - अगुरुलघु, उपघात, पराघात, उच्छ्वास नामकर्म

अचक्खु—अचक्षुदर्शन

अच्चासायणया—अवहेलना, उपेक्षा, आशातना

अजय—अयत—अविरत सम्यग्दृष्टि जीव

अजयगुण—अयत गुणस्थान

अजयाइ - अविरत सम्यग्दृष्टि आदि

अजस—अयशःकीर्ति नामकर्म

अजिय—अजीव

अजिणाहार—अजिनाहारक-जिननामकर्म तथा आहारक-द्विक रहित

अजिन मणुआउ—अजिन मनुष्यायुष्—तीर्थंकर नामकर्म तथा मनुष्यायु छोड़कर

अट्ठि—अस्थि, हड्डी

अट्ठवन्न—अट्ठावन ५८

अट्ठारसय—अष्टादशशत (११८)

अट्ठावण्णा—अट्ठावन ५८

अड—अष्ट - आठ

अडयालसयं—एकसौ अड़तालीस १४८

अडवन्न—अट्ठावन ५८

अडवीस—अट्ठाईस २८

अण—अनन्तानुबन्धी कषाय

अणएकतीस—अनैकत्रिंशत्-अनन्तानुबन्धी आदि ३१ प्रकृतिया

अण चउवीस—अनन्तानुबन्धी आदि २४ प्रकृतियाँ

अणछ्वीस—अनषड्विंशति-अनन्तानुबन्धी आदि २६ प्रकृतियाँ

अणाइज्ज—अनादेय नामकर्म

अणाहार—अनाहारक मार्गणा

अणुपुव्वी—आनुपूर्वी नामकर्म

अणुसिण—अनुष्ण (शीतल)

अत्थुग्गह - अर्थावग्रह

अथिर—अस्थिर नामकर्म

अथिरछक्क—अस्थिर, अशुभ, दुर्भग, दुःस्वर, अनादेय, अयशःकीर्ति, नामकर्म की छह प्रकृतियाँ

अद्ध—आधा भाग

अद्धनाराय—अर्धनाराच संहनन

अन्नह—अन्यथा

अनाणतिग—अज्ञानत्रिक-मति आदि तीन अज्ञान

अनियट्टि—अनिवृत्ति वादर संपराय गुणस्थान

अपच्चक्खाण—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

अपज्ज—अपर्याप्त नामकर्म। अपर्याप्त जीव

अपत्ति—समय प्राप्त न होने पर

अपमत्त—अप्रमत्त विरत गुणस्थान

अयोगि—अयोगि केवली गुणस्थान

अरइ—अरति मोहनीय

अवलेहि—वांस का छिलका

अवाय—मतिज्ञान का अपाय नामक भेद

अविरय—अविरत सम्यग्दृष्टि। अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

असंनि—असंज्ञी

असाय—असातावेदनीय

असुभ (असुह)—अशुभ नामकर्म

असुहनवग—कृष्ण, नील वर्ण, दुर्गन्ध, तिक्त, कटु रस, गुरु, खर, रूक्ष, शीत स्पर्श, यह नौ प्रकृतियाँ अशुभनवक कहलाती हैं।

अहक्खाय चरित्त—यथाख्यात चारित्र

आइ—आदि, पहला, प्रथम

आइज्ज—आदेय नामकर्म

आइलेसतिग—आदि लेश्यात्रिक—कृष्ण आदि तीन लेश्याएँ

आउ—आयुकर्म

आणयाइ—आनत आदि देवलोक

आयव—आतप नामकर्म

आवरणदुग—आवरणद्विक (ज्ञानावरण, दर्शनावरण)

आसव—आस्रव तत्त्व

आहारग (आहारय)—आहारक शरीर नामकर्म । आहारक शरीर

आहारदु—आहारकद्विक नामकर्म

आहार-दुग—आहारक तथा आहारक मिश्रयोग अथवा आहारक शरीर, आहारक अंगोपांग

आहार-छग—आहारक-षट्क, आहारक आदि छह प्रकृतियाँ

इगचत्त – इकतालीस (४१)

इगनवइ—एकनवति—इकानवें (६१)

इगसऊ—एक सौ एक (१०१)

इगसी—इक्यासी (८१)

इगहिय सय—(एकाधिकशतं) एक सौ एक (१०१)

इगिंदि (एगिंदि)—एकेन्द्रिय जाति

इगिंदि-तिग—एकेन्द्रिय-त्रिक—एकेन्द्रिय आदि तीन प्रकृतियाँ

इन्दिय चउक्क –स्पर्शन, रसन, घ्राण और श्रोत्र यह चार इन्द्रियां

इत्थी—स्त्री, स्त्रीवेद नामकर्म

उच्च —उच्चगोत्र

उज्जोअ—उद्योत नामकर्म

उज्जोअ-चउ—उद्योत आदि चार प्रकृतियाँ

उज्जोया—उद्योत नामकर्म

उण्ह—उष्ण स्पर्श नामकर्म

उम्मग्ग— शास्त्रविरुद्ध-स्वच्छन्द

उयर—पेट

उर—छाती, वक्षस्थल

उरल—औदारिक – स्थूल, औदारिक काययोग

उरल-दुग—औदारिकद्विक नामकर्म

उरालंग—औदारिक शरीर

उवंग—उपांग, अंगुली आदि शरीर के अंग

उवघाय—उपघात नामकर्म, नाश

उवसम – औपशमिक सम्यक्त्व। उपशान्तमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

उस्सास—उच्छ्वास नामकर्म

उसिणफास—उष्ण स्पर्श नामकर्म

ऊरु—जंघा

ऊससणलद्धि—श्वासोच्छ्वास की शक्ति

ऊसासनाम—उच्छ्वास नामकर्म

एगयर—किसी एक का

ओराल—औदारिक शरीर नामकर्म। औदारिक शरीर

ओह—ओघ—सामान्य

ओहि – अवधिदर्शन। अवधिज्ञान

ओहि-दुग—अवधि-द्विक

ओहेण—सामान्य रूप से

कडु—कटुक रस नामकर्म

कप्पदुग—कल्प-द्विक—१-२ देवलोक

कम्म-(कम्मण)—कार्मण काय योग

करण—इन्द्रिय

कसाय—कषाय मोहनीय कर्म, कषायरस नामकर्म

कसिण—कृष्णवर्ण नामकर्म

किण्ह—कृष्ण वर्ण नामकर्म

कीलिया—कीलिका संहनन नामकर्म। खीला

कुखग—अशुभ विहायोगति नामकर्म

कुच्छा—घृणा

केवल-दुग (केवल)—केवलज्ञान, केवलदर्शन

केवलि—केवलज्ञानी

कोह—क्रोध कषाय

खीण—क्षीणमोह वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

खंति—क्षमा

खंवा—मिलाने से

खइअ—क्षायिक सम्यक्त्व

खओ—क्षय होने से

खगइ—क्षायिक

खग्ग—तलवार

खर—खर स्पर्श नामकर्म

खुज्ज—कुब्जसंस्थान

गइ—गति नामकर्म

गइतस—गतित्रस—तेजस्काय, वायुकाय

गमिय—गमिकश्रुत

गुण—गुणस्थान

गुणसट्ठि—उनसठ ५९

गुरु—गुरु स्पर्श नाम कर्म। अथवा वजनदार, भारी

गूढहियअ—कपटी

गोय—गोत्र कर्म

चउनवइ—चौरानवें (६४)

चउव्विहो—चार प्रकार का

चउसयरि—चौहत्तर ७४

चउहा—चार प्रकार का

चक्खु—चक्षुदर्शन अथवा आंख

चरणमोह—चारित्र मोहनीय कर्म

चरित्त मोहणिय—चारित्र मोहनीय

छक्क—छह (६) का समूह

छच्छेओ—छह का क्षय होने से

छद्धा—छह प्रकार का

छनुइ (छनवइ)—षण्णवति—छियानवै (६६)

छपन्न—छप्पन (५६)

छलंसि—छठे भाग में

छसट्ठि—छियासठ (६६)

छस्सयरि—छियत्तर (७६)

छहा छह प्रकार का

छेअ—छेदोपस्थानीय चारित्र

छेवट्ट—सेवार्तसंहनन

जइ—साधु

जउ—लाख

जयाइ—प्रमत्त संयत आदि गुणस्थान

जस—यशःकीर्ति नामकर्म

जाइ—जाति नामकर्म

जिअ—आत्मा

जिण-पणग—जिन आदि पांच प्रकृतियां

जिण-इक्कारस (जिणिक्कार)—जिन आदि ग्यारह प्रकृतियां

जिय—जीव तत्त्व

जीय—जीव

जीव—आत्मा

जुअ—युत—सहित

जोइ—ज्योतिषीदेव

जोइस—चन्द्र, नक्षत्र आदि ज्योतिष मंडल

जोग—संयम

जोगि—सयोगि केवली

ठिइ—स्थिति, स्थितिवन्ध

णुदया—उदय न होने से

तइयाइसु—तीसरे आदि भागों में

तणु—शरीर अथवा शरीर नामकर्म

तणुतिग—तीन शरीर

तणुपज्जत्ति—शरीर पर्याप्ति

तम्मिस्स—तन्मिश्र—तद् मिश्र काययोग (अमुक काययोग के साथ अमुक का मिश्र)

तरु—वनस्पतिकाय

तस—त्रस नामकर्म

तसचउ—त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक—नामकर्म की चार प्रकृतियां

तसदसग—नामकर्म की त्रस, वादर, पर्याप्त, प्रत्येक, स्थिर, शुभ, सुभग, सुस्वर, आदेय, यशःकीर्ति ये १० प्रकृतियां।

ति—तीन (३)

तिग—तीन का समूह

तिणिसलया—बैंत

तित्त—तिक्त रस नामकर्म

तित्थ (तित्थयर)—तीर्थंकर नामकर्म

तिन्नि—तीन

तिय कसाय—तीसरा कषाय—प्रत्याख्यानावरण कषाय

तिरि—तिर्यंच

तिरिदुग—तिर्यंच-द्विक

तिरिनराउ (तिरियनराउ)—तिर्यंच आयु तथा मनुष्य आयु

तिरियाउ—तिर्यंचायु

तेअ—तेजस्काय अथवा तेजोलेश्या

तेय—तैजस शरीर

थावर—स्थावर

थावरचउक्क—स्थावर, सूक्ष्म, अपर्याप्त, साधारण, यह—चार प्रकृतियां

थावरदस—स्थावर आदि दस प्रकृतियां

थिर—स्थिर नामकर्म

थिरछक्क—स्थिर आदि छह प्रकृतियां

थी—स्त्री

थीणतिग—स्त्यानर्द्धित्रिक (प्रचला, प्रचला-प्रचला एवं स्त्यानर्द्धि-निद्रा के तीन भेद)

थीणद्धी—स्त्यानर्द्धि नामक निद्रा विशेप

दंसण—यथार्थ श्रद्धा

दंसण चउ—दर्शनावरण चतुष्क (चक्षुदर्शन, अचक्षुदर्शन, अवधिदर्शन,केवल-दर्शन का आवरण)

दंसण मोह—दर्शन मोहनीय

दंसणावरण—दर्शनावरण कर्म

दुग (दु)—दो (२)

दुगंध—दुरभिगन्ध नामकर्म

दुभग—दुर्भग नामकर्म

दुरहि—दुरभिगंध नामकर्म

दुस्सर—दुःस्वर नामकर्म

दुहग—दुर्भग नामकर्म

दूसर—दुःस्वर नामकर्म

देवमणुआउ—देव आयु तथा मनुष्यायु

देस—देशविरति गुणस्थान

देसाइ—देशविरति आदि गुणस्थान

नपु—नपुंसकवेद

नपुंचउ (नपुंस चउ)—नपुंसक चतुष्क

नर—मनुष्यगति, पुरुष

नरअ—अधोलोक

नरय—नरक, नरकगति

नरयनव—नरकगति आदि नौ प्रकृतियां

नरयबार नरकगति आदि बारह प्रकृतियाँ

नरय सोल—नरकगति आदि १६ प्रकृतियः

नरयाउ—नरक-आयु

नराउ—मनुष्य आयु

नवनवइ—निन्यानवै (६६)

नाण - ज्ञान

नाम—नामकर्म

नाराय—नाराच संहनन । दोनों ओर मर्कट वन्ध रूप अस्थि रचना

निग्गोह—न्यग्रोध परिमण्डल संस्थान

निचअ—रचना

निउज्जोय—नीचगोत्र उद्योतनाम

निण्हव—छिपाना, अपलाप करना

निम्माण (निमिण)—निर्माण नामकर्म

निय (नीय)—अपना अथवा नीचगोत्र

नियट्टि—निवृत्ति (अपूर्वकरण) गुणस्थान

निरय—नरक, नारक (नरक के जीव)

नेय—जानने योग्य

नोकसाय - नोकषाय मोहनीय

पंकाइ—पंकप्रभा आदि नरक

पइ—तरफ, ओर

पएस—प्रदेशवन्ध

पओस—अप्रीति (प्रद्वेप)

पच्चक्खाण—प्रत्याख्यानावरण कपाय

पज्जत्त—पर्याप्त नामकर्म

पज्जत्ति—पर्याप्ति (पुद्गलोपचय-जन्य शक्तिविशेप)

पज्जय—पर्याय, पर्यायश्रुत

पट्ट—वेठन

पड—पट्टी

पडिणीयत्तण—शत्रुता

पडिवत्ति—प्रतिपत्ति श्रुत

पडिवाइ—प्रतिपाति अवधिज्ञान

पणयालं—पैंतालीस (४५)

पणवन्ना—पचपन (५५)

पणसीइ—पचासी (८५)

पणिंदि—पंचेन्द्रिय

पत्तेय—प्रत्येक नामकर्म। अवान्तर भेदरहित प्रकृति

पत्तेय तणु—प्रत्येक तनु (जिसका स्वामी एक जीव है, वैसा शरीर)।

पप्प—प्राप्त करके

पमत्त—प्रमत्तविरत गुणस्थान

पम्हा—पद्मलेश्या

पय—पदश्रुत

पयइ—स्वभाव। प्रकृतिवन्ध

पयडि—कर्मप्रकृति

परघाय—पराघात नामकर्म

परित्त—प्रत्येक नामकर्म

परिहार—परिहारविशुद्धि चारित्र

पाणि—जीव

पाहुड—प्राभृत श्रुत

पिंडपयडि—पिण्ड प्रकृति (अवान्तर भेद वाली प्रकृति)

पुम—पुरुषवेद

फुंफुमा—कण्डे की आग

फास—स्पर्श नामकर्म

बंध—बन्धतत्त्व, बंधप्रकरण

बंधण—बन्धन नामकर्म

बन्ध-विहाण—बन्ध करना

बज्झंतय—वर्तमान में बंधने वाला

बायर—बादर नामकर्म। स्थूल

बायाल—बयालीस (४२)

बिय (बि)—दो (२)

बियाल सयं—एक सौ बयालीस (१४२)

बिसयरि (बिसत्तरि)—द्विसप्तति—बहत्तर (७२)

बीअ कषाय—दूसरा कषाय—अप्रत्याख्यानावरण कषाय

भवण—भवनपतिदेव

भूंभल—मद्यपात्र

मइ—मतिज्ञान

मइ-सुअ—मति एवं श्रुतज्ञान

मक्कड बन्ध—मर्कट के समान बन्ध

मज्झागिअ—मध्याकृति—बीच के संस्थान

मण—मन, मनःपर्यायज्ञान

मणनाण—मनःपर्यायज्ञान

मण वयजोग—मन-योग तथा वचनयोग

मणु (मणुअ)—मनुष्य, मनुज

महुर—मधुर रस नामकर्म, मीठा

माणस—मन

मिउ—मृदुस्पर्श नामकर्म

मिढ—भेड़

मिच्छ (मिच्छे)—मिथ्यात्व मोहनीय अथवा मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिच्छत्त—मिथ्यात्व मोहनीय

मिच्छतिग—मिथ्यादृष्टि आदि तीन गुणस्थान

मिच्छ-सम – मिथ्यादृष्टि गुणस्थान के तुल्य

मिच्छा—मिथ्यात्व मोहनीय

मीस (मीसय,मीसे)—मिश्र मोहनीय, मिश्र (सम्यग्मिथ्यात्व) गुणस्थान

मीस-दुग—मिश्र और अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

मुक्ख—मोक्ष

मूलपगइ—मुख्यप्रकृति

रअ—आसक्त

रइ—प्रेम, अनुराग, रति नामकर्म

रयणाइ (रयण) – रत्नप्रभा आदि नरक

राई—रेखा, लकीर

रिजमइ—ऋजुमति मनःपर्यायज्ञान

रिसह—ऋषभ (पट्ट वेठन) अथवा ऋषभनाराच संहनन

रिसहनाराय—ऋषभनाराच संहनन

रुक्ख—रूक्षस्पर्शनामकर्म

लंबिगा—पड़जीभ

लहुय—हलका

लिहिअ—लिखा हुआ

लिहण—चाटना

लोह—लोभ, ममता

लोहिय—लोहितवर्ण नामकर्म

वंसिमूल---वाँस की जड़ (मायाकषाय के एक भेद की उपमा)

वइर---वज्रऋषभ नाराच संहनन

वज्ज---खीला

वज्जं---छोड़कर के

वज्जरिसहयनाराय---वज्रऋषभ नाराच संहनन

वजणवग्ग---व्यंजनावग्रह; मतिज्ञान

वट्टंत---वर्तमान

वड्ढमाणय---वर्धमान (अवधिज्ञान का भेद विशेष)

वण---वाणव्यन्तर देव

वण्ण---वर्ण नामकर्म

वन्न---वर्ण नामकर्म

वस---वैल । अधीनता

वामण---वामन संस्थान

विउव्व (वेउव्व)---वैक्रिय शरीर नामकर्म तथा वैक्रिय काययोग

विउवट्ठ---वैक्रिय अष्टक (वैक्रिय शरीर आदि आठ प्रकृतियाँ)

विग्घ---विघ्न, अन्तराय कर्म

विगल---विकलेन्द्रिय

विगलतिग---विकलत्रिक

विजिणु---छोड़कर

वित्ति---दरवान

विभासा---परिभाषा-संकेत

विमलमइ---विमलमति मनःपर्यायज्ञान

विवज्जत्थ---(विवज्जय-विवरीय) विपरीत, उलटा

विवाग---विपाक, फल (प्रभाव, असर)

विहगगइ—विहायोगति नामकर्म

वुच्छेओ—क्षय होने से

वेअ—वेदमोहनीय

वेद-तिग—स्त्री-पुरुष-नपुंसक वेद

वेय—वेदनीय कर्म

वेयण—भोगना, अनुभव करना

वेयणिय—वेदनीय कर्म

संघयण—सहनन नामकर्म । हड्डी की रचना

संघाय—संघात श्रुतज्ञान । संघात नामकर्म

संघायण—संघात नामकर्म

संजलण—संज्वलन कषाय

संजलणतिग—संज्वलन क्रोध, मान, माया

संठाण—संस्थान नामकर्म

संत—सत्ता

संनि—संज्ञी (मनवाला), संज्ञीमार्गणा

संम—अविरत सम्यक्दृष्टि गुणस्थान

सग—अपना

सगवन्न—सत्तावन (५७)

सगसयरि—सतहत्तर (७७)

सगसीइ—सतासी (८७)

स-ठाणा—स्व-अपना गुणस्थान

सणकुमाराइ—सनत्कुमारादि देवलोक

सतणु—अपना शरीर

सत्तग—सात प्रकृतियों का समूह

सतर—सत्रह (१७)

सतसउ — सप्तदशशत — एक सौ सत्रह (११७)

सपज्जवसिय—अन्तसहित

सपडिवक्ख—विरोधी सहित

समइअ—सामायिक चारित्र

समचउर —(समचउरंस)—समचतुरस्र संस्थान

सम्म —सम्यग्दृष्टि, सम्यक्त्व मोहनीय

समास—संक्षेप

सयरि—सत्तर (७०)

सयोगि—सयोगिकेवली गुणस्थान

सव्वविरई—सर्वविरति चारित्र

ससल्ल—माया आदि शल्य सहित

सहिय—सहित

साइ—सादि संस्थान

साइय—आदि सहित

सामन्न—निराकार

साय—सातावेदनीय (सुख)

सायासाएगयरं—साता असाता में से कोई एक

सासण (सासाण)—सास्वादन गुणस्थान

साहारण—साधारण नाम कर्म

सिणिद्ध—स्निग्धस्पर्श नामकर्म

सिय – सित नामकर्म (सफेद, श्वेत)

सीअ (सीय)—शीतस्पर्श नामकर्म

सुक्क—शुक्ललेश्या

सुखगइ—शुभ विहायोगति

सुभ—सुन्दर, अच्छा, शुभ नामकर्म

सुभग—सुभग नामकर्म

सुय—श्रुतज्ञान

सुरइगुणवीस—सुरैकोनविंशति—देवगति आदि १९ प्रकृतियाँ

सुरहि—सुरभिगंध नामकर्म

सुराउ—देवायु

सुसर—सुस्वर नामकर्म

सुह—शुभ नामकर्म, सुखप्रद, सुख

सुहुम—सूक्ष्म नामकर्म। सूक्ष्मसंपराय चारित्र। सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान।

सुहुमतिग—सूक्ष्मत्रिक (सूक्ष्म, अपर्याप्त साधारण नामकर्म)।

सुहमतेर—सूक्ष्म नामकर्म आदि तेरह प्रकृतियां

सूसर—सुस्वर नामकर्म

सेयर—स-इतर—स-प्रतिपक्ष

सेलत्थंभो—पत्थर का खम्भा (मान कषाय के एक भेद की उपमा)

हडि—वेड़ी

हलिद्द—हारिद्र नामकर्म

हवइ—है, होता है

हवेइ—होता है

हास—हाँसी

हास्य—हास्य मोहनीय

हुंड—हुंडसंस्थान

हेउ—हेतु, कारण

होइ—होता है

श्रीमरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

(प्रवचन प्रकाशन विभाग)

सदस्यों की शुभ नामावली

विशिष्ट सदस्य

१ श्री घीसुलाल जी मोहनलाल जी सेठिया, मैसूर
२ श्री वच्छराज जी जोधराज जी सुराणा, सेला (सोजत-सिटी)
३ श्री रेखचन्द जी साहब रांका, मद्रास (वगड़ी-नगर)
४ श्री वलवंतराज जी खाटेड़, मद्रास (वगड़ी-नगर)
५ श्री नेमीचन्द जी बाँठिया, मद्रास (वगड़ी-नगर)
६ श्री मिश्रीमल जी लूंकड़, मद्रास (वगड़ी-नगर)
७ श्री माणकचन्द जी कात्रेला, मद्रास (वगड़ी-नगर)
८ श्री रतनलाल जी केवलचन्द जी कोठारी मद्रास (निम्बोल)
९ श्री अनोपचन्द जी किशनलाल जी वोहरा, अटपडा
१० श्री गणेशमल जी खींवसरा, मद्रास (पूजलू)
११ शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, चतर एण्ड कम्पनी, व्यावर
१२ शा० वस्तीमल जी वोहरा C/o सिरेमल जी धुलाजी, गाणों की गली उदयपुरिया वाजार, पाली
१३ शा० आलमचंद जी भैरुंलाल जी रांका, सिकन्द्रावाद, रायपुर
१४ शा० धूलचंद जी अभयराज जी वोंरुदेया, वलुंदा (मारवाड़)

प्रथम श्रेणी

१ मै० वी. जी. ओसवाल, जवाहर रोड, रत्नागिरी (सिरियारी)
२ शा० इन्दरसिंह जी मुनोत, जालोरी गेट, जोधपुर

३ शा० लादूराम जी छाजेड़, व्यावर (राजस्थान)
४ शा० चंपालाल जी डूंगरवाल, नगरथपेठ, बेंगलोर सिटी (करमावास)
५ शा० कामदार प्रेमराज जी, जुमामस्जिद रोड, बेंगलोर सिटी (चावंडिया)
६ शा० चांदमल जी मानमल जी पोकरना, पेरम्बूर मद्रास, ११ (चावंडिया)
७ जे० बस्तीमल जी जैन, जयनगर, बेंगलोर ११ (पूजलू).
८ शा० पुखराज जी सीसोदिया, व्यावर
९ शा० बालचंद जी रूपचंद जी बाफना,
११८।१२० जवेरी बाजार बम्बई–२ (सादड़ी निवासी)
१० शा० बालाबगस जी चंपालाल जी वोहरा, राणीवाल
११ शा० केवलचंद जी सोहनलाल जी वोहरा राणीवाल
११ शा० अमोलकचंद जी धर्मीचंद जी आच्छा, बड़ाकांचीपुरम्,मद्रास (सोजत रोड)
१३ शा० भूरमल जी मीठालाल जी बाफना, तिरकोयलूर, मद्रास (आगेवा)
१४ शा० पारसमल जी कावेडिया, आरकाट, मद्रास (सादड़ी)
१५ शा० पुखराज जी अनराज जी कटारिया, आरकोनम्, मद्रास (सेवाज)
१६ शा० सिमरतमल जी संखलेचा, मद्रास (बीजाजी का गुड़ा)
१७ शा० प्रेमसुख जी मोतीलाल जी नाहर, मद्रास (कालू)
१८ शा० गूदड़मल जी शांतिलाल जी तलेसरा, एनावरम्, मद्रास
१९ शा० चंपालाल जी नेमीचंद, जबलपुर (जैतारण)
२० शा० रतनलाल जी पारसमल जी चतर, व्यावर
२१ शा० सम्पतराज जी कन्हैयालाल जी मूथा, कूपल (मारवाड़-मादलिया)
२२ शा० हीराचंद जी लालचंद जी धोका, नक्सावाजार, मद्रास
२३ शा० नेमीचंद जी धर्मीचंद जी आच्छा, चंगलपेट, मद्रास
२४ शा० एच० घीसुलाल जी, पोकरना, एण्ड सन्स, आरकाट—N.A.D.T. (बगड़ी-नगर)
२५ शा० घीसुलाल जी पारसमल जी सिंघवी, चांगलपेट, मद्रास
२६ शा० अमोलकचंद जी भंवरलाल जी विनायकिया, नक्शावाजार, मद्रास
२७ शा० पी० बीजराज नेमीचंद जी धारीवाल, तीरुवेलूर

२८ शा० [illegible] जी मानकचंद जी बोरा, [illegible]
२९ शा० [illegible] जी [illegible] जी [illegible]
३० शा० पारसमल जी मोहनलाल जी सुराणा कुंभकोणम्, मद्रास
३१ शा० हस्तीमल जी मुणोत, पॉटमार्केट सिकन्द्राबाद (आन्ध्र)
३२ शा० केवलराज जी मोहनलाल जी चौधरी, तिरुकोइलूर, मद्रास
३३ शा० [illegible] जी जोडराज जी सुराणा, [illegible]
३४ शा० नेमचंद जी जसराज जी गोलेछा, बैंगलोर सिटी
३५ शा० डॉ० छगनलाल जी नौरतमल जी वैद, बैंगलोर सिटी
३६ शा० एम० मंगलचंद जी कटारिया, मद्रास
३७ शा० मंगलचंद जी दरड़ा C/o मदनलाल जी मोतीलाल जी.
शिवराम पैठ, मैसूर
३८ पी० नेमीचंद जी बारीवाल, N. क्रास रोड, राबर्टसन पेट. K.G.F.
३९ शा० चंपालाल जी प्रकाशचंद जी छलाणी नं० ५७ नगरथ पैठ. बैंगलूर-२
४० शा० आर. विजयराज जांगड़ा, नं० १ क्रास रोड. राबर्टसन पेट K.G.F.
४१ शा० गजराज जी छोगमल जी, रविवार पेठ ११९३. पूना
४२ श्री पुखराज जी किशनलाल जी ततेड़, पॉट-मार्केट. सिकन्द्राबाद—A.P.
४३ श्री केसरीमल जी मिश्रीमल जी आच्छा, वालाजाबाद-मद्रास
४४ श्री कालूराम जी हस्तीमल जी मूथा, गांधीचौक रायपुर
४५ श्री वस्तीमल जी वोहरा C/o सीरेमल जी धूलाजी [illegible]
पुड़िया बाजार, पाली
४६ श्री सुकनराज जी भोपालचंद जी पगारिया, [illegible]
४७ श्री विरदीचंद जी लालचंद जी मरलेचा, मद्रास
४८ श्री उदयराज जी केवलचंद जी बोहरा, मद्रास (सर)
४९ श्री भंवरलाल जी जवरचंद जी दूगड़, कुरलारी
५० शा० मदनचंद जी देवराज जी दरड़ा, १२ रामानुजम् [illegible]
मद्रास १
५१ शा० सोहनलाल जी दूगड़, ३७ कालाती पीलं [illegible]
५२ शा० धनराज जी केवलचंद जी, ५ [illegible]

५३ शा० जेठमल जी चोरड़िया C/o महावीर ड्रग हाऊस नं १४ वानेश्वरा टेम्पल-स्ट्रीट ५ वां क्रोस आरकाट श्रीनिवासचारी रोड, पो० ७६४४, बैंगलोर ५३

५४ शा० सुरेन्द्र कुमार जी गुलाबचंद जी गोठी मु० पो० घोटी, जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५५ शा० मिश्रीमल जी उत्तमचंद जी ४२४/३ चीकपेट-बेंगलोर २ A.

५६ शा० एच० एम० कांकरिया २९९, O.P.H. रोड, बेंगलोर १

५७ शा० सन्तोशचंद जी प्रेमराज जी सुराणा मु० पो० मनमाड़ जि० नासिक (महाराष्ट्र)

५८ शा० जुगराज जी जवाहरलाल जी नाहर नेहरू बाजार नं० १६ श्रीनिवास अयर स्ट्रीट, मद्रास १

५९ मदनलाल जी रांका (वकील) ब्यावर

६० पारसमल जी रांका C/o वकील भंवरलाल जी रांका ब्यावर

६१ शा० धनराज जी पन्नालाल जी जांगड़ा नयामोंडा, जालना (महाराष्ट्र)

६२ शा० एम० जवाहरलाल जी बोहरा ६९ स्वामी पन्डारम् स्ट्रीट, चीन्ताधर-पेट, मद्रास २

६३ शा० नेमीचंद जी आनन्दकुमार जी रांका C/o जोहरीलाल जी नेमीचंद जी जैन, बापूजी रोड, सलूरपेठ (A. P.)

६४ शा० जुगराज जी पारसमल जी छोदरी, २५ नारायण नायकन स्ट्रीट पुडुपेट मद्रास २

६५ चैनराज जी सुराणा गांधी बाजार, शिमोगा (कर्नाटक)

६६ पी० बस्तीमल जी मोहनलाल जी बोहरा (जाडण) राबर्टसन पेठ (K.G.F.)

६७ सरदारमल जी उमरावमल जी संचेती, सरदारपुरा (जोधपुर)

६८ चंपालाल जी मीठालालजी संकलेचा, जालना (महाराष्ट्र)

६९ पुखराज जी ज्ञानचंदजी मुणोत, मद्रास

७० संपतराज जी प्यारेलाल जी जैन, मद्रास

७१ चंपालाल जी उत्तमचंद जी गांधी जवाली, मद्रास

७२ पुखराज जी किशनलाल जी तातेड़, सीकन्द्राबाद (रायपुर वाले)

द्वितीय श्रेणी

१ श्री लालचंद जी श्रीश्रीमाल व्यावर
२ श्री सूरजमल जी इन्दरचंद जी संकलेचा, जोधपुर
३ श्री मुन्नालाल जी प्रकाशचंद जी नम्वरिया, चौधरी चौक, कटक
४ श्री घेवरचंद जी रातड़िया, रावर्टसनपेठ
५ श्री वगतावरमल जी अचलचंद जी खींवसरा ताम्वरम्, मद्रास
६ श्री छोतमल जो सायवचंद जी खींवसरा, वौपारी
७ श्री गणेशमल जी मदनलाल जी भंडारी, नीमली
८ श्री माणकचंद जी गुलेछा, व्यावर
९ श्री पुखराज जी वोहरा, राणीवाल वाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
१० श्री धर्मीचंद जी वोहरा, जुठावाला हाल मुकाम-पीपलिया कलाँ
११ श्री नथमल जी मोहनलाल जी लूणिया, चंडावल
१२ श्री पारसमल जी शान्तीलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री जुगराज जी मुणोत मारवाड़ जंकशन
१४ श्री रतनचंद जी शान्तीलाल जी मेहता, सादड़ी (मारवाड़)
१५ श्री मोहनलाल जी पारसमल जी भंडारी, बिलाड़ा
१६ श्री चंपालाल जी नेमीचंद जी कटारिया, बिलाड़ा
१७ श्री गुलावचंद जी गंभीरमल जी मेहता, गोलवड
[तालुका डेणु—जिला थाणा (महाराष्ट्र)]
१८ श्री भंवरलाल जी गौतमचंद जी पगारिया, कुशालपुरा
१९ श्री चनणमल जी भीकमचंद जी रांका, कुशालपुरा
२० श्री मोहनलाल जी भंवरलाल जी वोहरा, कुशालपुरा
२१ श्री संतोकचंद जी जवरीलाल जी जामड़,
१४६ वाजार रोड, मदरानगतम
२२ श्री कन्हैयालाल जी गादिया, आरकोणम्
२३ श्री धरमीचंद जी ज्ञानचंद जी मूथा, वगड़ीनगर
२४ श्री मिश्रीमल श्री नगराज जी गोठी, बिलाड़ा

२५ श्री दुलराज इन्दरचंद जी कोठारी
११४, तैयप्पा मुदली स्ट्रीट, मद्रास-१

२६ श्री गुमानलाल जी मांगीलाल जी चौरड़िया चिन्ताधरी पैठ मद्रास-१

२७ श्री सायरचंद जी चौरड़िया, ६० एलीफेन्ट गेट मद्रास-१

२८ श्री जीवराज जी जवरचंद जी चौरड़िया, मेड़तासिटी

२९ श्री हजारीमल जी निहालचंद जी गादिया, १६२ कोयम्वतूर, मद्रास

३० श्री केसरीमल जी झूमरलाल जी तलेसरा, पाली

३१ श्री धनराज जी हस्तीमल जी आच्छा, मु० कावेरी पाक

३२ श्री सोहनराज जी शान्तिप्रकाश जी सचेती, जोधपुर

३३ श्री चंपालाल जी भंवरलाल जी सुराना, कालाऊना

३४ श्री मांगीलाल जी शंकरलाल जी भंसाली,
२७ लक्ष्मीअमन कोयल स्ट्रीट, पैरम्बूर मद्रास-१२

३५ श्री हेमराज जी शान्तिलाल जी सिंधी,
११ बाजार रोड, राय पेठ मद्रास-१४

३६ शा० अम्बूलाल जी प्रेमराज जी जैन, गुडियातम

३७ शा० रामसिंह जी चौधरी, व्यावर

३८ शा० प्रतापमल जी मगराज जी मलकर---केसरीसिंह जी का गुड़ा

३९ शा० संपतराज जी चौरड़िया, मद्रास

४० शा० पारसमल जी कोठारी, मद्रास

४१ शा० भीकमचन्द जी चौरड़िया, मद्रास

४२ शा० शान्तिलाल जी कोठारी, उतशेटे

४३ शा० जव्वरचन्द जी गोकलचन्द जी कोठारी, व्यावर

४४ शा० जवरीलाल जी धरमीचन्द जी गादिया, लांबिया

४५ श्री सेंसमल जी धारीवाल, वगड़ीनगर (राज०)

४६ जे० नौरतमल जी वोहरा, १०१८ के० टी० स्ट्रीट, मैसूर-१

४७ उदयचन्द जी नौरतमल जी मूथा
C/o हजारीमल जी विरधीचन्द जी मूथा, मेवाड़ी बाजार व्यावर

४८ हस्तीमल जी तपस्वीचन्द जी नाहर, पो० कौसाना (जोधपुर)

४९ श्री आर० पारसमल जी लुणावत ४१-बाजार रोड, मद्रास

५० श्री मोहनलाल जी मीठालाल जी, वम्वई-३
५१ श्री पारसमल जी मोहनलाल जी पोरवाल, वेंगलोर
५२ श्री मीठालाल जी ताराचन्द जी छाजेड़, मद्रास
५३ श्री अनराज जी शान्तिलाल जी विनायकिया, मद्रास-११
५४ श्री चान्दमल जी लालचन्द जी ललवाणी, मद्रास-१४
५५ श्री लालचन्द जी तेजराज जी ललवाणी, त्रिकयोलूर
५६ श्री सुगनराज जी गौतमचन्द जी जैन, तमिलनाडु
५७ श्री के० मांगीलाल जी कोठारी, मद्रास-१६
५८ श्री एस० जवरीलाल जी जैन, मद्रास-५२
५९ श्री केसरीमल जी जुगराज जी सिंघवी, वैंगलूर-१
६० श्री सुखराज जी शान्तिलाल जी सांखला, तीरुवल्लुर
६१ श्री पुकराज जी जुगराज जी कोठारी, मु० पो० चावंडिया
६२ श्री भंवरलाल जी प्रकाशचन्द जी वग्गाणी, मद्रास
६३ श्री रूपचन्द जी वाफणा चंडावल
६४ श्री पुखराज जी रिखवचन्द जी रांका, मद्रास
६५ श्री मानमल जी प्रकाशचन्द जी चौरडिया, पीचियाक
६६ श्री भीखमचन्द जी शोभागचन्द जी लूणिया, पीचियाक
६७ श्री जैवंतराज जी सुगमचन्द जी वाफणा, वेंगलोर (कुशालपुरा)
६८ श्री घेवरचन्द जी भानीराम जी चाणोदिया, मु० इसाली
६९ शा० नेमीचन्द जी कोठारी नं० १२ रामानुजम अयर स्ट्रीट मद्रास-१
७० शा० मांगीलाल जी सोहनलाल जी रातडीआ C/o नरेन्द्र एथटेरी कस स्टोर, चीकपेट, वेंगलोर-४
७१ शा० जवरीलाल जी मुराणा अलन्दुर, मद्रास १६
७२ शा० लुमचन्द जी मंगलचन्द जी तालेड़ा अशोका रोड, मैसूर
७३ शा० हंसराजजी जसवन्तराजजी मुराणा मु० पो० मोजतसिटी
७४ शा० हरकचन्दजी नेमीचन्दजी भनसाली मु० पो० घोटी जि० इगतपुरी (नासिक, महाराष्ट्र)
७५ शा० समीरमलजी टोडरमलजी छोदरी फलों का वास. मु० पो० जालोर

७६ शा० वी० सजनराजजी पीपाड़ा मारकीट कुनुर जि० नीलगिरी (मद्रास)

७७ शा० चम्पालालजी कान्तीलालजी अन्ड० कुन्टे नं० ४५८९७७/१४१भवानी शंकर रोड वीसावा बिल्डिग, दादर बोम्बे नं० २८

७८ शा० मिश्रीमलजी बीजेराजजी नाहर मु० पो० वायद जि० पाली (राज०)

७९ शा० किसोरचन्द जी चांदमलजी सोलंकी C/o K. C. Jain 14 M. C. Lain. II Floor 29 Cross Kilai Road, Banglore 53

८० शा० निरमलकुमारजी मांगीलाल जी खींवसरा ७२ धनजी स्ट्रीट पारसी गली, गनपत भवन, बम्बई ३

८१ श्रीमती सोरमबाई धर्मपत्नी पुकराजजी मुनोत मु० पो० राणावास

८२ शा० एच० पुकराजजी जैन (वोपारी) मु० पो० खरतावाद हैदराबाद ५००००४

८३ शा० सुगालचन्द जी उतमचन्दजी कटारीया रेडीलस, मद्रास ५२

८४ शा० जवरीलालजी लुंकड़ (कोटडी) C/o घमंडीराम सोहनराज अन्ड कं० ४८६/२ रेवड़ी बाजार अहमदाबाद-२

८५ शा० गौतमचन्द जी नाहटा (पीपलीया) नं० ८, वाटु पलीयार कोयल स्ट्रीट साहुकार पेट, मद्रास १

८६ शा० नथमलजी जवरीलालजी जैन (पटारीक्रमावस) वस स्टेण्ड रोड यहलंका बेंगलोर (नार्थ)

८७ शा० मदनलालजी छाजेड़ मोती ट्रेडर्स १५७ ओपनकारा स्ट्रीट,कोयम्बतूर (मद्रास)

८८ शा० सीमरथमलजी पारसमलजी कातरेला जूना जेलखाना के सामने सिकन्द्राबाद (A. P.)

८९ शा० एम० पुकराजजी अण्ड कम्पनी क्रास बाजार दूकान नं० ९, कुनूर (नीलगिरी)

९० शा० चम्पालालजी मूलचन्दजी नागोतरा सोलंकी मु० पोस्ट—रांणा वाया-पाली (राजस्थान)

९१ शा० वस्तीमलजी सम्पतराजजी खारीवाल (पाली) C/o लक्ष्मी इलैक्ट्रीकल्स नं० ९५ नेताजी सुभाषचन्द रोड, मद्रास १

९२ मोणकचन्द जी ललवानी (मेड़तासिटी) मद्रास
९३ मांगीलालजी टीपरावत (ठाकरवास) मद्रास
९४ नायरचन्द जी गांधी पाली (मारवाड़)
९५ मांगीलालजी लुणावत, उदयपुर (राज०)
९६ सरदारचन्दजी अजितचन्दजी भंडारी, त्रिपोलीया बाजार (जोधपुर)
९७ सुगालचन्दजी अनराजजी मूथा मद्रास
९८ लालचन्दजी संपतराजजी कोठारी, बेंगलोर
९९ माणकचन्दजी महेन्द्रकुमारजी ओस्तवाल, बेंगलोर
१०० बक्तावरमलजी अनराजजी छलाणी (जैतारण) रावर्टसन पेठ K.G.F.

तृतीय श्रेणी

१ श्री नेमीचन्द जी कर्णावट, जोधपुर
२ श्री गजराज जी भंडारी, जोधपुर
३ श्री मोतीलाल जी सोहनलाल जी बोहरा, ब्यावर
४ श्री लालचन्द जी मोहनलाल जी कोठारी, गोठन
५ श्री सुमरेमल जी गांधी, सिरियारी
६ श्री जवरचन्द जी बम्ब, सिन्धनूर
७ श्री मोहनलाल जी चतर, ब्यावर
८ श्री जुगराज जी भंवरलाल जी राका, ब्यावर
९ श्री पारसमल जी जवरीलाल जी धोका, नोजन
१० श्री छगनमल जी बस्तीमल जी बोहरा, ब्यावर
११ श्री चनणमलजी धानमल जी खीवसरा, मु० बोपार
१२ श्री पन्नालाल जी भंवरलाल जी ललवाणी, बिलाड़ा
१३ श्री अनराज जी लखमीचन्द जी ललवाणी, आगेवा
१४ श्री अनराज जी पुखराज जी नाहिटा, आगेवा
१५ श्री पारसमल जी धरमीचन्द जी सांगद, बिलाड़ा
१६ श्री चम्पालाल जी धर्मीचन्द जी खारीवाल, कुनालकुरा
१७ श्री जवरचन्द जी मागिलाल जी बोहरा, कुनालकुरा
१८ श्री चम्पालाल जी हीराचन्द जी कुन्देचा, मोजतोर

१६ श्री हिम्मतलाल जी प्रेमचन्द जी साकरिया, सांडेराव
२० श्री पुखराज जी रिखवाजी साकरिया, सांडेराव
२१ श्री बाबूलाल जी दलीचन्द जी वरलोटा, फालना स्टेशन
२२ श्री मांगीलाल जी सोहनराज जी राठोड, सोजत रोड
२३ श्री मोहनलाल जी गांधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
२४ श्री पन्नालाल जी नथमल जी भंसाली, जाजणवास
२५ श्री शिवराज जी लालचन्द जी बोकड़िया, पाली
२६ श्री चान्दमल जी हीरालाल जी बोहरा, ब्यावर
२७ श्री जसराज जी मुन्नीलाल जी मूथा, पाली
२८ श्री नेमीचन्द जी भंवरलाल जी डक, सारण
२९ श्री ओटरमल जी दीपाजी, सांडेराव
३० श्री निहालचन्द जी कपूरचन्द जी, सांडेराव
३१ श्री नेमीचन्द जी शांतिलाल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३२ श्री विजयराज जी आणंदमल जी सिसोदिया, इन्द्रावड़
३३ श्री लूणकरण जी पुखराज जी लूंकड़, बिग-बाजार, कोयम्बतूर
३४ श्री किस्तूरचन्द जी सुराणा, कालेजरोड कटक (उड़ीसा)
३५ श्री मूलचन्द जी बुधमल जी कोठारी, बाजार स्ट्रीट, मन्डिया (मैसूर)
३६ श्री चम्पालाल जी गौतमचन्द जी कोठारी, गोठन स्टेशन
३७ श्री कन्हैयालाल जी गौतमचन्द जी काँकरिया, मद्रास (मेड़तासिटी)
३८ श्री मिश्रीमल जी साहिबचन्द जी गाँधी, केसरसिंह जी का गुड़ा
३९ श्री अनराज जी बादलचन्द जी कोठारी, खवासपुरा
४० श्री चम्पालाल जी अमरचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४१ श्री पुखराज जी दीपचंद जी कोठारी, खवासपुरा
४२ शा० सालमसींग जी ढाबरिया, गुलाबपुरा
४३ शा० मिट्ठालाल जी कातरेला, बगड़ीनगर
४४ शा० पारसमल जी लक्ष्मीचंद जी कांठेड ब्यावर
४५ शा० धनराज जी महावीरचन्द जी खीवसरा, बैंगलोर-३०
४६ शा० पी० एम० चौरड़िया, मद्रास
४७ शा० अमरचन्द जी नेमीचन्द जी पासमल जी नागौरी,, मद्रास

७५ शा० मगराज जी रूपचन्द खींवसरा C/o रूपचन्द-विमलकुमार पो० पेरमपालम; जिला चंगलपेट

७६ सा० माणकचंदजी भंवरीलाल जी पगारिया C/o नेमीचंद मोहनलाल जैन १७ बिन्नी मिल रोड बेंगलौर ५३

७७ शा० ताराचंद जी जवरीलाल जी जैन कन्दोई बाजार जोधपुर (महामन्दिर)

७८ शा० इन्दरमलजी भण्डारी—मु० पो० नीमाज

७९ शा० भीकमचन्दजी पोकरणा १९ गोडाउन स्ट्रीट-मद्रास १

८० शा० चम्पालालजी रतनचन्दजी जैन (सेवाज)
C/o सी० रतनचन्द जैन—४०३/७ बाजार रोड रेडीलस—मद्रास ५२

८१ शा० मगराजजी माधोलालजी कोठारी मु० पो० बोरूंदा वाया पीपाड़ सिटी (राज०)

८२ शा० जुगराजजी चम्पालालजी नाहर C/o चन्दन इलक्टरीकल ६६५ चोकपेट, बेंगलोर ५३

८३ शा० नथमलजी पुकराजजी मीठालालजी नाहर C/o हीराचन्द नथमल जैन No ८९ मैनरोड मुनीरडी पालीयम—वेंगलौर—६

८४ शा० एच० मोतीलालजी सान्तीलालजी समदरिया सामराज पेट नं० ९८/७ क्रोस रोड, बेंगलौर १८

८५ शा० मंगलचंदजी नेमीचंदजी बोहरा C/o भानीराम गणेसमल एण्ड सन्स H० ५६ खलास पालीयस वेंगलौर—२

८६ शा० धनराजजी चम्पालालजी समदरिया जी० १२९ मीलरोड वेंगलोर—५३

८७ शा० मिश्रीलालजी फूलचन्दजी दरला C/o मदनलाल मोतीलाल जैन, सीवरामपेट, मैसूर

८८ शा० चम्पालालजी दीपचन्दजी सींगीं (सीरीयारी) C/o दीपक स्टोर—हैदरगुड़ा ३/६/२९४/२/३ हैदराबाद (A. P.)

९० शा० जे० बीजेराजजी कोठारी W50 कीचयालेन काटन पेट वेंगलौर—५३

९१ शा० बी० पारसमलजी सोलंकी C/o श्री विनोद ट्रेडर्स राजास्ट्रीट कोयम्बतूर

९२ शा० कुशालचन्दजी गोविन्दचन्दजी सुराणा ७२६ सदरबाजार सोलारम (आ० प्र०)

९३ शा० प्रेमराजजी भीकमचन्दजी खींवसरा मु० पो० बोपारी वाया राणावास

९४ शा० पारसमलजी डंक (नारन) C/o सायरचन्दजी पारसमल जैन म० न० १२/५/१४८ मु० पो० लालागुड़ा सिकन्द्राबाद (A. P.)

९५ शा० शोभाचन्दजी प्रकाशचन्द जी गुगलीया C/o सुगराज हीराचन्द एण्ड कं० मर्चेन्ट—दावनगिरी — कर्णाटक

९६ श्रीमती सोभागवतीजी रांका C/o भवरलालजी रांका मु० पो० ब्यावर

९७ श्रीमती निरमलादेवी रांका C/o वकील भवरलालजी रांका मु० पो० ब्यावर

९८ शा० जम्बूकुमार जैन दालमील भैरों बाजार बेलनगंज आगरा—४

९९ शा० मोहनलालजी-भटेवीया सिंहपोल मु० पो० जोधपुर

१०० भंवरलालजी ज्ञानलालजी बोरा ब्यावर

१०१ चम्पालालजी कांटेड़ पाली (मारवाड़)

१०२ सम्पतराजजी जयचन्दजी सुराणा पाली मारवाड़ (सोजत)

१०३ हीरालालजी खाबीया पाली मारवाड़

१०४ B. चंदनराजजी नाहेड़ अल्सुर बैंगलोर (सीनाड़ा)

१०५ रतनलालजी धीसूलालजी समदड़ीया, [illegible] पूना

१०६ श्री० निलन्द्र कुमारजी जैन मु० पो० धार (म० प्र०)

●●